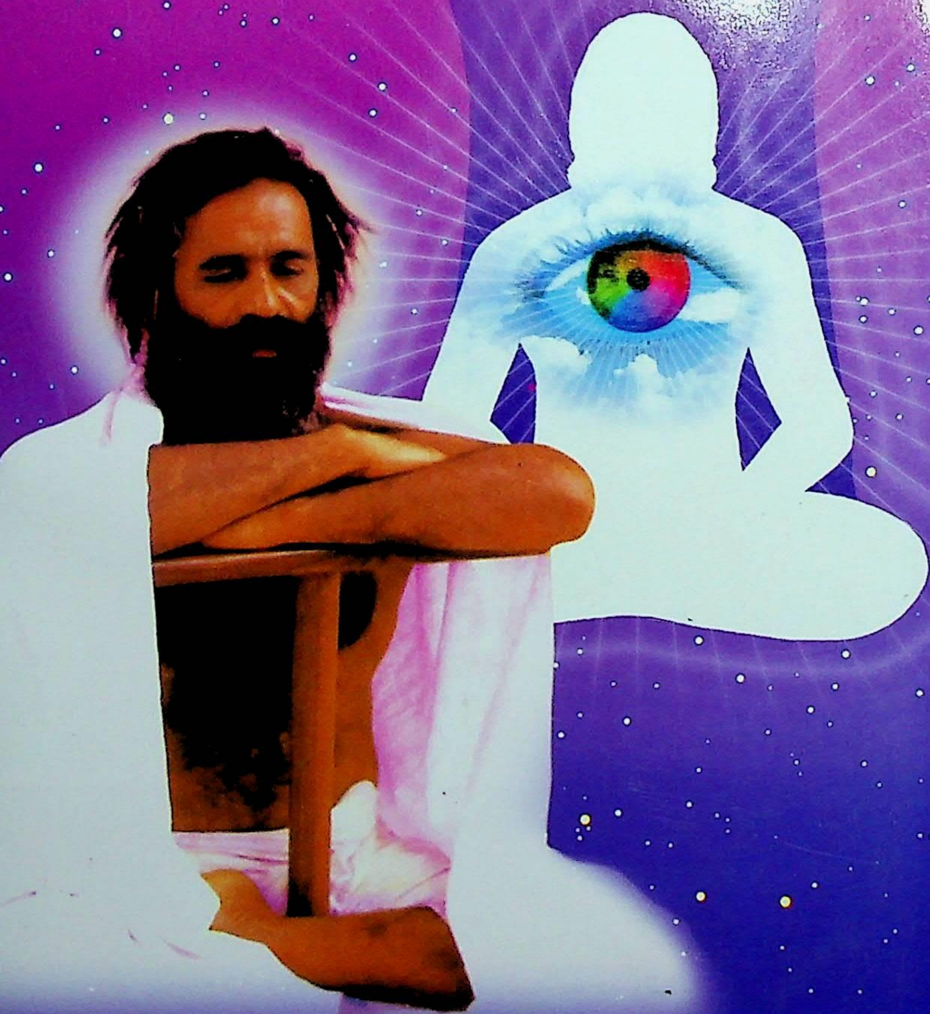
महर्षि पतञ्जलिकृत

योगदर्शन

प्रत्यक्षानुभूत



...लेखक के प्रति

पूज्य स्वामीजी द्वारा श्रीमद् भगवद्गीता के भाष्य 'यथार्थ गीता' का विश्व जनमानस में समादर की भावना देखकर भक्तों और साधकों ने निवेदन किया कि पातञ्जल योगदर्शन पर भी पूज्यश्री कुछ कहने की कृपा करें क्योंकि योग स्वानुभूति है जिसे मात्र भौतिक स्तर पर समझा नहीं जा सकता। पूज्य-चरण एक महापुरुष हैं, योग के स्तर से स्वयं गुजरे हैं। भक्तों के आग्रह पर महाराजजी ने कृपा कर जो प्रवचन दिये, प्रस्तुत कृति उसी का संकलन है।

- प्रकाशक



।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

महर्षि पतञ्जलिकृत

योगदर्शन

(प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या)

व्याख्याकार–

परमहंस स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी महाराज

श्री परमहंस आश्रम शक्तेषगढ़

ग्रा.पो.–शक्तेषगढ़, चुनार, मिर्जापुर (उ.प्र.)

फोन : (०५४४३) २३८०४०

रजिस्टर्ड ट्रस्ट का पताः

श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज आश्रम ट्रस्ट

ग्रा.पो.- शक्तेषगढ़, चुनार, मिर्जापुर (उ. प्र.) पिनकोड- २३१३०४

ट्रस्ट कार्यालय :

श्री परमहंस आश्रम

गाँव : अनखीर (डिलाइट गार्डन के पास)

सेक्टर-२१सी, सूरजकुंड रोड,

फरीदाबाद, हरियाणा, पिनकोड-१२१००१

गुरु-वन्दना

।। ॐ श्री सद्गुरुदेव भगवान् की जय ।।

जय सद्गुरुदेवं, परमानन्दं, अमर शरीरं अविकारी।
निर्गुण निर्मूलं, धरि स्थूलं, काटन शूलं भवभारी।।

सूरत निज सोहं, कलिमल खोहं, जनमन मोहन छविभारी।
अमरापुर वासी, सब सुख राशी, सदा एकरस निर्विकारी।।

अनुभव गम्भीरा, मति के धीरा, अलख फकीरा अवतारी।
योगी अद्वेष्टा, त्रिकाल द्रष्टा, केवल पद आनन्दकारी।।

चित्रकूटहिं आयो, अद्वैत लखायो, अनुसुइया आसन मारी।
श्री परमहंस स्वामी, अन्तर्यामी, हैं बड़नामी संसारी।।

हंसन हितकारी, जग पगुधारी, गर्व प्रहारी उपकारी।
सत्-पंथ चलायो, भरम मिटायो, रूप लखायो करतारी।।

यह शिष्य है तेरो, करत निहोरो, मोपर हेरो प्रणधारी।
जय सद्गुरु.........भारी।।

।। ॐ ।।

"आत्मने मोक्षार्थं जगत् हिताय च"

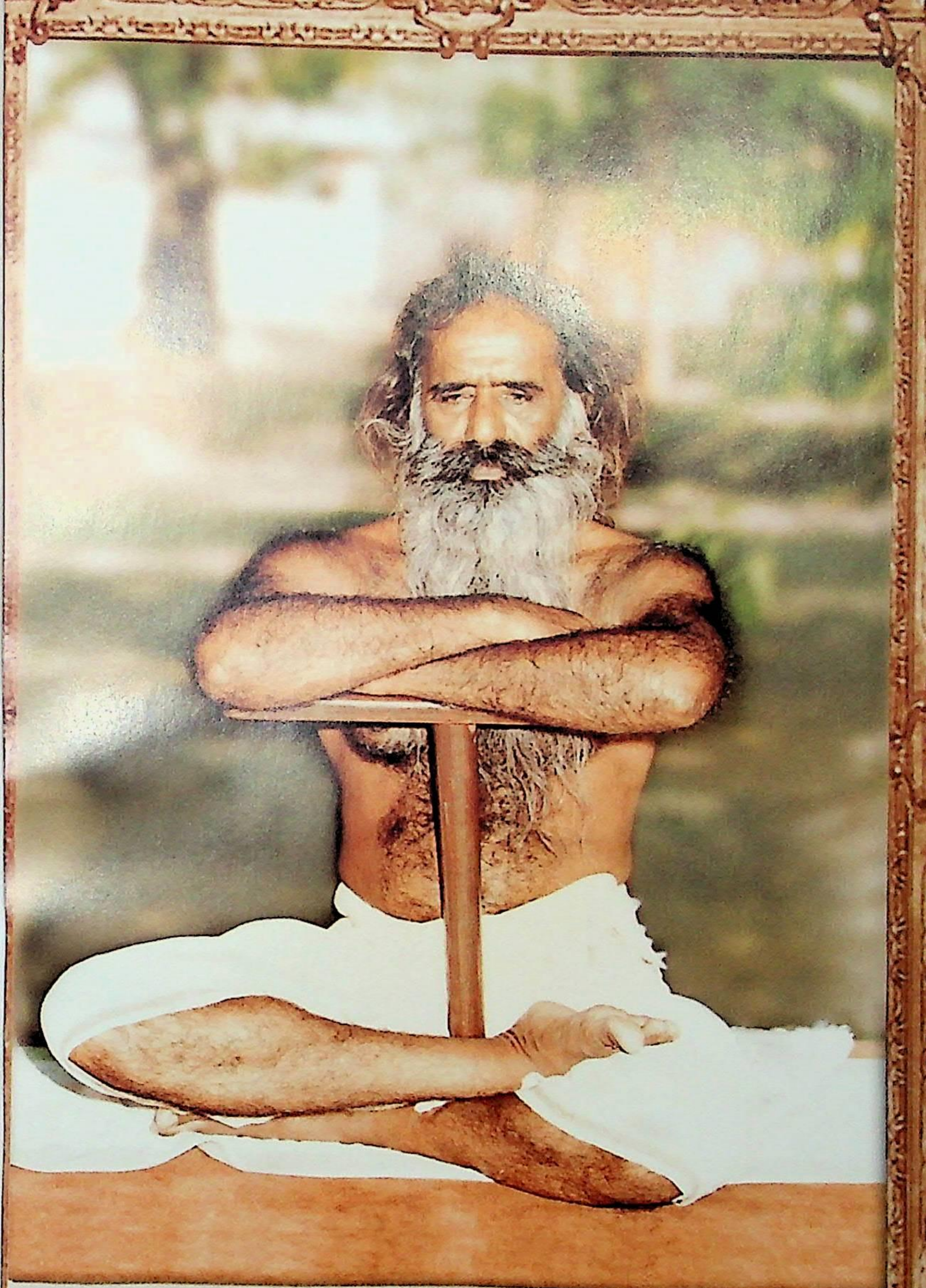


श्री श्री १००८ श्री स्वामी परमानन्दजी महाराज (परमहंसजी)

जन्म : शुभ सम्वत् विक्रम १९६९ (सन् १९११ ई०)

महाप्रयाण : ज्येष्ठ शुक्ल ७, वि०सं० २०२६, दिनांक २३/०५/१९६९ ई०

परमहंस आश्रम अनुसुइया, चित्रकूट



श्री स्वामी अड़गड़ानन्दजी महाराज

(परमहंस महाराज का कृपा-प्रसाद)

अनुक्रमणिका

।। ॐ ।।



प्राक्कथन

योग शब्द 'युज्' धातु में 'धञ्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होता है। पाणिनीय व्याकरण के अनुसार युज् धातु तीन गणों में पायी जाती है– १. युज् समाधौ दिवादिः आत्मने पदी, २. युजिर योगे रुधादिः उभयपदी और ३. युज् संयमने चुरादिः परस्मैपदी। इस प्रकार योग का अर्थ क्रमशः समाधि, जोड़ और संयमन होता है।

प्रसिद्ध संस्कृत कोश 'अमरकोश' में है– **'योगः सन्नहनोपायः ध्यान संगति युक्तिषु'**– योग ध्यान की संगति है, ध्यान की युक्ति है। 'सन्नहन' उस ध्यान में संघर्षशील होना योग है। वैद्यक में नुस्खे (उपाय) को भी योग कहते हैं। ध्यान द्वारा चित्त को एकाग्र करना योग है। दो वस्तुओं की संगति अर्थात् मेल को योग कहते हैं।

साधारण जन योग को वह अभ्यास मानते हैं जिससे कोई अलौकिक सिद्धि मिल जाय, जिससे ऐसे कार्य किये जा सकें जो साधारण मनुष्य की शक्ति से बाहर हों।

ऋग्वेद, पंचम मण्डल, सूक्त इक्यासी की पहली ऋचा में है–

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य वृहतो विपश्चितः।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः।।

विप्रा अर्थात् ज्ञानीजन बुद्धि और ज्ञान के स्रोत परमात्मा में **'मनः युञ्जते'**- अपना मन लगाते हैं और **'धियः युञ्जते'**- उसी में बुद्धि लगाते हैं। वही **'एकः इत देव'**- एकमात्र देव है, सब कुछ जानने वाला है, यशों को धारण करता है, उसकी स्तुति महान् है।

इस प्रकार वैदिक संहिताओं में योग का आशय मन को परमात्मा में लगाना है।

योग अनादि है। भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय के आरम्भ में कहा– '**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।**' इस अविनाशी योग को मैंने विवस्वान् (सूर्य) के प्रति कहा। '**स एवायं मया तेऽद्ययोगः प्रोक्तः पुरातनः।**' (४/३)– वही पुरातन योग अब मैंने तेरे लिए वर्णन किया है।

इस प्रकार गीता योगशास्त्र है जिसमें भगवान ने योग के लिए राजयोग, हठयोग, सुरति योग, लय योग जैसे विशेषणों का प्रयोग न कर मात्र योग शब्द को ही समग्रता से लिया है। '**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**' (१८/७८) गीता उन्हें महायोगेश्वर कहती है।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– अर्जुन! '**योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।**' (६/४७) योगियों में भी वह योगी मुझे अत्यन्त प्रिय है जो अन्तरात्मा से मुझे भजता है और निरन्तर मुझमें लगा हुआ है। अर्थात् मन, वचन, कर्म से एक परमात्मा में लगने का नाम योग है।

गीता में भगवान कहते हैं– '**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।**' (९/२२)– अनन्य अर्थात् अन्य न! मेरे अतिरिक्त अन्य किसी को न भजता हुआ जो केवल मुझे भजता है, ऐसे निरन्तर मुझसे संयुक्त भक्त के योगक्षेम का भार मैं स्वयं वहन करता हूँ। अर्थात् अनन्य भाव से भगवान में लगने का नाम योग है।

गीता के अनुसार योग में लगने की विधि क्या है?–

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (८/१२)

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को विषयों से समेटकर, मन को हृदय-देश में स्थिर कर, सुरत को मस्तिष्क में स्थिर कर, '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन्। यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।।**' (८/१३)– 'ओम्' बस इतना ही उस परमतत्त्व परमात्मा का परिचायक है, उसका जप करते हुए और '**मामनुस्मरन्**'– मेरे स्वरूप का ध्यान करते हुए जो देहाध्यास का त्याग कर देता है वह परमगति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् एक परमात्मा के मिलन का नाम योग है। आप मिलेगें कब?

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।। (८/१४)

अनन्य भाव से अर्थात् अन्य किसी देवी-देवता का चिन्तन न करके जो निरन्तर मुझे भजता है, सदा मुझसे संयुक्त उस योगी के लिए मैं सुलभ हूँ। अर्थात् योग का परिणाम है भगवान का दर्शन, न कि सिद्धियों का प्रदर्शन। योग है क्या?–

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।। (६/२३)

जो संसार के संयोग-वियोग से रहित है, उसी का नाम योग है। जो आत्यन्तिक सुख है, जिसे परमतत्त्व परमात्मा कहते हैं, उसके मिलन का नाम योग है।

वर्तमानकाल में अनेक विशेषणों के बीच योग अपना मूल आशय खो चुका है। लोग ऐन्द्रजालिक कौशल को योग कहते हैं। मारण, उच्चाटन, वशीकरण इत्यादि की ओर ही इनके प्रचारकों का विशेष ध्यान रहता है। अस्वाभाविक क्रियाओं तथा यंत्र, मंत्र, ताबीज, कवच इत्यादि द्वारा कर्मफल खण्डन करने का दावा कतिपय योगी करने लगे हैं। सचमुच के योगी ईश्वर-चिन्तन में इतने तन्मय हो जाते थे कि वे शरीर की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते थे। बालों में जटाएँ बन जाती थीं, शरीर पर धूल-मिट्टी जम जाती थी; किन्तु आजकल लोग कृत्रिम जटाएँ बना लेते हैं, मिट्टी लगा लेते हैं। ईश्वर प्रेम, चिन्तन और विरह का पथ है, किन्तु देश-विदेश में 'योगा' के नाम पर मात्र आसनों का प्रचार, कुण्डलिनी जागरण, ध्यान-शिविर, प्राणायाम-प्रशिक्षण प्रचलन देख प्रतीत होता है कि वर्तमान समाज योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के आशय से वंचित होता जा रहा है। ऐसी विषम परिस्थितियों में योगसूत्रों पर आश्रम में आने वाले भक्तों की जिज्ञासाओं तथा साधकों द्वारा योगदर्शन पर बार-बार प्रश्न करने पर साधकों को बैठाकर महर्षि पतञ्जलि के सूत्रों पर जो क्रमबद्ध उपदेश दिया गया, वह प्रस्तुत कृति के रूप में आप सबके समक्ष प्रस्तुत है।

मौर्यवंश के अन्तिम सम्राट बृहद्रथ के निधन के पश्चात् उनके ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र शुंग का शासनकाल आया, जिसने भगवान बुद्ध के सिद्धान्तों का खण्डन कर जन्म से निर्धारित ब्राह्मणों की पूज्यता पर आधारित चातुवर्ण्य व्यवस्था की स्थापना की। इस नवीन व्यवस्था की पोषक स्मृतियाँ धर्मशास्त्र के नाम से उसी काल में प्रतिष्ठित हुईं।

महर्षि पतञ्जलि पुष्यमित्र के समकालीन कहे जाते हैं। उस काल में धर्म की नयी-नयी व्यवस्थाओं से आशंकित हो उन्होंने योग के कल्याणपरक ज्ञान को संक्षिप्त सूत्रों में प्रस्तुत किया, जिससे भारत की प्राचीन विद्या का लोप न हो। योग के सिद्धान्तों को उन्होंने सूत्र-रूप में किन्तु स्पष्ट शब्दों में प्रस्तुत किया, जिससे प्रतीत होता है कि शब्दानुशासन व्याकरण पर उनका असाधारण अधिकार था। लोकोक्ति भी है कि भगवान पतञ्जलि ने मनोवाक्काय दोष निवारणार्थ योगसूत्र महाभाष्य और चरकसंहिता की संरचना की।

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि।।

महर्षि पतञ्जलि ने योग के नाम पर नया कुछ नहीं लिखा, बल्कि वही सूत्रबद्ध किया जो गीता में है। चित्तवृत्तियों का निरोध गीता में है– '**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।।**' (६/२०); यमों में परिगणित अपरिग्रह गीता के '**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।**' (६/१०) से लिया गया है। '**स्थिर सुखमासनम्**' (योग., २/४६) गीता के '**स्थिरमासनमात्मनः**' (६/१०) की पुनरुक्ति है। अभ्यास और वैराग्य से मन का निरोध (गीता, ६/३५) महर्षि पतञ्जलि को भी अभिमत है। ओम् का जप, वीतराग सद्गुरु का ध्यान, उनके द्वारा साधना की जागृति, स्वरूप की उपलब्धि- महर्षि का सब कुछ गीता का ही रूपान्तर है।

वर्तमानकाल में योग की दो प्रमुख प्रणालियाँ प्रचलित हैं– एक तो वह जो महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों पर आधारित है और दूसरी प्रणाली हठयोग के नाम से प्रसिद्ध है। पातंजलयोग '**चित्तानुशासनम्**'-चित्तवृत्तियों को अनुशासित करने पर आधारित है। जबकि हठयोग का सम्बन्ध शरीर-संचालन, स्वास्थ्य

एवं रोग-मुक्ति से है। पतञ्जलि ने मन की स्थिरता एवं सुख से बैठने को आसन कहा है, जबकि हठयोग के ग्रन्थ चौरासी से चौरासी लाख आसनों की लम्बी शृंखला देते हैं। हठयोग में नेति, धौती, वस्ति, नौली, त्राटक, कपालभाति, महामुद्रा, खेचरी, जालन्धर, उड्डीयान, मूलबन्ध, बज्रोली, अमरोली एवं सहजोली-जैसी क्रियाएँ प्रचलन में हैं, जिनके विषय में योग-दर्शन मौन है। हठयोग प्रणाली में षट्चक्रों का भेदन करते हुए कुण्डलिनी को ब्रह्मरंध्र तक ले जाना होता है। उसमें योग के आठ अंगों के स्थान पर छः अंगों की ही चर्चा है, यम-नियमों को छोड़ दिया गया है। हठयोग का प्राणायाम श्वासों के पूरक, कुम्भक और रेचक पर दृष्टि रखना है जिसके कई रूप उज्जाई, भस्त्रिका, सूर्यभेदी, भ्रामरी, शीतली इत्यादि हैं। सिद्धियों को महर्षि पतञ्जलि ध्येय की प्राप्ति में व्यवधान मानते हैं, जबकि हठयोगी इसे योग की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि मानकर इसका प्रदर्शन करते रहते हैं। कहना न होगा कि योग के नाम पर अनेक भ्रान्त धारणाओं का सृजन इन दोनों प्रणालियों को मिला देने से हुआ है अथवा यह कहना अधिक समीचीन होगा कि शारीरिक क्रियाओं को योग की संज्ञा देने से विकृतियों को प्रोत्साहन मिला है। कल्याणकारक योगविधि वही है जिसकी परम्परा वेदों से लेकर गीता तक अक्षुण्ण है, शुंगकाल में जिसे महर्षि पतञ्जलि ने पुनः सूत्रबद्ध किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगदर्शन विश्व के मानवमात्र को उद्देश्य बनाकर प्रस्तुत किया है, जिसमें मानवमात्र के अन्तःकरण में निहित दुःख के कारणों का उन्मूलन कर शाश्वत कैवल्य की प्राप्ति का मार्गदर्शन है।

योगसूत्र कठिन हैं और योगाभ्यास की कतिपय अवस्थाओं की पूर्ण व्याख्या उपस्थित नहीं करते। वे संक्षिप्त टिप्पणी के रूप में हैं, मानो निर्देश करते हैं कि किसी तत्त्वदर्शी सद्गुरु की शरण में जायँ। इसी सन्देश के साथ महर्षि के सूत्रों की व्याख्या आप सबके समक्ष प्रस्तुत है।

श्री गुरु पूर्णिमा
२ जुलाई, २००४ ई०

सद्गुरु कृपाश्रयी, जगद्बन्धु
स्वामी अड़गड़ानन्द

॥ ॐ ॥



।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन

प्रत्यक्षानुभूत व्याख्या

महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन के चार पाद अर्थात् चार अध्याय हैं- समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। समाधिपाद का पहले वर्णन कर उन्होंने योग की विशेषताओं पर प्रकाश डाला जिससे रुचि जागृत हो, वहाँ तक पहुँचने की साधना बता दी, साधना से ईश्वरीय विभूतियों का प्राकट्य होगा और अंत में अविनाशी परमपद कैवल्य पद की प्राप्ति का विधान प्रस्तुत किया गया है।

प्रथम अध्याय – समाधिपाद

शास्त्र के आरम्भ में ही प्रश्न स्वाभाविक है कि योग मूलतः है क्या?

अथ योगानुशासनम्।।१।।

अब आरम्भ करते हैं योगशास्त्र। योग है क्या? योग एक अनुशासन है। अनुशासित किसे करें– पास-पड़ोस को? एक-दूसरे को? एक देश दूसरे देश को? एकान्त में चिन्तन करनेवाला किसे अनुशासित करे? नियंत्रित किसे करना है? इस पर कहते हैं–

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।।२।।

चित्त की वृत्तियों का निरोध (सर्वथा रुक जाना) योग है। वृत्ति तो एक तरंग है- मन में उठनेवाली संकल्पों की लहर। उसका सर्वथा रुक जाना, अचल स्थिर ठहर जाना योग है। मान लें, अथक परिश्रम कर किसी ने चित्तवृत्तियों का निरोध कर ही लिया तो उससे लाभ?

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।।३।।

उस समय द्रष्टा की अपने रूप में स्थिति हो जाती है। द्रष्टा आत्मा जो चैतन्य है, सर्वथा निर्मल है, अपने ही परमात्मस्वरूप में स्थित हो जाता है। वृत्तियों के निरोध से यही लाभ है, यही प्राप्ति है-नैष्ठिकीम् सिद्धि या परम तत्त्व का विदित होना। प्रश्न उठता है, चित्तवृत्तियों का निरोध होने से पहले क्या द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित नहीं रहता? उस समय द्रष्टा का क्या स्वरूप रहता है? इस पर कहते हैं–

वृत्तिसारूप्यमितरत्र।।४।।

दूसरे समय में द्रष्टा का वृत्ति के सदृश स्वरूप होता है। जैसी वृत्ति वैसा पुरुष, वही हैं आप! लोग कहते हैं– मैं तो शुद्ध हूँ, आत्मा हूँ; किन्तु यह महापुरुष कहते हैं कि जैसा वृत्ति का प्रवाह है वैसा ही पुरुष का स्वरूप है।

अर्जुन के प्रश्न करने पर कि– "भगवन्! इस शास्त्रविधि को त्यागकर किन्तु पूर्ण श्रद्धा से युक्त होकर जो भजते हैं, उनकी क्या गति होती है?" (गीता, १७/१) भगवान ने कहा– "अर्जुन! पुरुष श्रद्धामय है। एक भी पुरुष सृष्टि में ऐसा नहीं है जिसमें श्रद्धा न हो। जो जैसी श्रद्धावाला है, स्वयं भी वही है।" (गीता, १७/३) यही महर्षि पतञ्जलि भी कहते हैं कि जैसी वृत्ति वैसा पुरुष। चित्तवृत्ति-निरोध और स्वरूप में स्थिति से पूर्व वृत्ति का जैसा प्रवाह है वैसा ही आपके लिए द्रष्टा है। वृत्ति से होकर परमात्मा का उतना ही प्रतिबिम्ब प्राप्त होगा।

प्रश्न उठता है, यह वृत्ति क्या है? वृत्तियों का स्वरूप क्या है?–

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः।।५।।

पाँच तरह से विभक्त ये वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं– क्लिष्ट और अक्लिष्ट। एक क्लेशों को धारण करनेवाली, दूसरी क्लेशों से मुक्ति दिलानेवाली। पाँच प्रकार की वृत्तियों के नाम इस प्रकार हैं–

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः।।६।।

प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। इनमें से 'प्रमाण' वृत्ति को संचालित करता है, 'स्मृति' संस्कारों को धारण करती है। मूलतः वृत्तियाँ दो

हैं- विपर्यय और विकल्प। विपर्यय वृत्ति मिथ्याज्ञान की संवाहिका है, तो विकल्प वृत्ति अपौरुषेय शब्द, द्रष्टा-दृश्य के संयोग से मिलनेवाले शब्द को समझकर चलती है। एक वृत्ति 'निद्रा' है। यह सम्पूर्ण वृत्तियों की सुप्तावस्था है। इसमें न तो अज्ञान की जड़ता या व्यर्थज्ञान की जकड़न है और न शब्दज्ञान से उत्पन्न वस्तु (द्रष्टा) का विकल्प ही है। यह जड़ शरीर तक ही सीमित है। जो हैं ही नहीं, भूतादिकों के शरीर जिनका अस्तित्व नहीं है, अभाव है, वहीं तक सीमित है। यह वृत्ति की निद्रा अवस्था है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, **'प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च जना न विदुरासुराः। न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।' (१६/७)** अर्जुन! आसुरी वृत्तिवाले लोग कार्यम् कर्म में प्रवृत्त होना और अकर्तव्य कार्य से निवृत्त होना नहीं जानते अर्थात् करने योग्य क्या है उसे न जानते हैं न प्रवृत्त होते हैं तथा न अकर्तव्य कर्म समझते हैं, न उससे निवृत्त होना जानते हैं।" वृत्ति की यह सुप्त अवस्था निद्रा है जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने आसुरी सम्पद् के अन्तर्गत ही प्रस्तुत किया है।

अब देखें प्रमाण-वृत्ति का स्वरूप-

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि।।७।।

प्रमाण तीन हैं- प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। प्रत्यक्ष (प्रति अक्ष) का अर्थ है- आँखों के समक्ष होना। किन्तु इतना ही प्रत्यक्ष नहीं है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध की अनुभूति 'प्रत्यक्ष' है। अनुसुइया आश्रम में एक बार मध्य रात्रि में हम चट्टान पर सोये थे। ठण्डी-ठण्डी एक लकीर पेट के ऊपर चलती प्रतीत हुई। नींद खुल गई। हमने सोचा, इतना ठण्डा! बर्फ जैसा! वह भी चलती हुई लकीर! यह सर्प हो सकता है। धीरे-धीरे ठण्डा लगना बन्द हुआ। हमने टार्च जलाया तो सचमुच सर्प था। आँखों ने तो देखा नहीं था किन्तु स्पर्श से वह देखने में आ गया।

वन्यपशु एक किलोमीटर दूर से ही शेर की गंध पहचान जाते हैं, चिक-पिक कर अपनी टोली को सतर्क करने लग जाते हैं। कोल-भील भी आधा किलोमीटर दूर से ही सिंह की गन्ध पा जाते हैं, अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध

करने लग जाते हैं। नासिका में गन्ध प्रत्यक्ष होते ही 'अनुमान' क्रियाशील हो उठता है।

तीसरा प्रमाण 'आगम' है। परमात्मस्वरूप कैवल्य पद की ओर अग्रसर होने के लिये आप्तपुरुषों का दर्शन, उनकी वाणी, उनका सान्निध्य आगम कहलाता है। प्रमाण पाते ही वृत्तियाँ संचालित हो जाती हैं। यदि वे ईश्वरोन्मुखी हैं, वैराग्य, विवेक, कल्याण के भाव, श्रद्धा जगाती हैं तो अक्लिष्ट तथा प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हैं तो क्लिष्ट कहलाती हैं। प्रमाण से वृत्ति संचालित होती है। प्रथम वृत्ति है 'विपर्यय'–

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्।।८।।

जो उस वस्तु के स्वरूप में प्रतिष्ठित नहीं है– ऐसा मिथ्याज्ञान विपर्यय है। अस्तित्वहीन वस्तुओं में आसक्ति विपर्यय है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– "अर्जुन! आसुरी सम्पद् को प्राप्त पुरुष सोचता है कि मेरे पास इतना धन है, उतना होगा! मैं बड़े कुटुम्ब वाला हूँ! मेरे द्वारा यह शत्रु मारा गया, उसे मारूँगा, यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, यश को प्राप्त करूँगा और इस प्रकार कभी न पूर्ण होनेवाली अनन्त इच्छाओं, वासनाओं का सदैव आश्रय लिये रहता है। ऐसे पुरुष शनैः-शनैः घोर नरक में गिरते हैं, वे अन्धकार की ओर उन्मुख हैं।" यह वृत्ति सम्पूर्ण की सम्पूर्ण क्लिष्ट हैं; किन्तु इसे कहीं प्रमाण मिल गया, जैसे– आप्तपुरुषों का दर्शन; तत्काल यह क्लिष्ट वृत्ति अक्लिष्ट की ओर उन्मुख हो जायेगी। वाल्मीकि, अंगुलिमाल इत्यादि की वृत्ति में सत्पुरुषों के दर्शन से परिवर्तन का सूत्रपात हो गया। पूज्य परमहंस जी महाराज के साहचर्य से सती अनुसुइया क्षेत्र में दस्युओं के एक गिरोह का हृदय-परिवर्तन हो गया। उसका सरदार संत हो गया। दूसरी वृत्ति है 'विकल्प'–

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।।९।।

जो ज्ञान शब्दजनित ज्ञान के साथ-साथ होनेवाला है, जिसका विषय-वस्तु वास्तव में नहीं है वह विकल्प है।

इसी पाद के बयालीसवें सूत्र में है '**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।**' अर्थात् शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से

मिली हुई समाधि सवितर्क है। किन्तु किसी शब्द के सुनने या उसका आशय समझ लेने से समाधि तो नहीं लग जाती। विभीषण श्रीराम की शरण में आया, निवेदन किया; किन्तु मंत्रियों ने सन्देह ही व्यक्त किया–**'कामरूप केहि कारन आया।' (मानस, ५/४२/६)** शब्द भी मिला, आशय भी मिला, उसके अनुसार विभीषण को बाँधने की तैयारी भी हो गयी। समाधि तो किसी की नहीं लगी!

वास्तव में यह शब्द–'अनुभव' है, जो सक्षम सद्‌गुरु द्वारा अधिकारी साधक में भजन की जागृति के रूप में प्रस्फुटित होता है। द्रष्टा और दृश्य के संयोग से जो प्रेरणा मिलती है वह शब्द है। जो दृश्य का प्रयोजन है– पुरुष के लिए भोग और मुक्ति प्रदान करना– यह प्रयोजन सिद्ध करके द्रष्टा और दृश्य का संयोग भी शान्त हो जाता है। (देखें, साधनापाद, सूत्र १७, १८ और १९) वह चेतन द्रष्टा जिस प्रकार मुक्ति–प्रयोजक दृश्य संचालित करते हैं, समझाते हैं उसका नाम शब्द है। इस शब्द के आश्रित होकर चलनेवाली चित्त की प्रवृत्ति विकल्प कहलाती है। यहाँ वस्तु परमात्मा तो नहीं है, लेकिन उसका विकल्प सुदृढ़ हो जाता है। **'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत् पसार।'** सत्य का तीनों कालों में अभाव नहीं है। आत्मा ही सत्य है, सनातन है। इस प्रकार वस्तु परमात्मा तो नहीं है, किन्तु उसका विकल्प भली प्रकार पुष्ट हो जाता है। इसका नाम विकल्प–वृत्ति है। यह सम्पूर्ण वृत्ति अक्लिष्ट है; किन्तु संग–दोष से प्रमाण मिलते ही यह क्लेशों की ओर उन्मुख हो जाती है– **'श्रृंगी की भृंगी करि डारी, पाराशर के उदर विदार।'**

पूज्य परमहंस महाराज जी को अनुभव में दिखायी पड़ा था कि वह पिछले कई जन्मों से साधु थे। पिछले जन्म में आवागमन से निवृत्ति होने ही वाली थी कि एक–दो कुतूहल मन में होने लगे कि यह शादी–विवाह होता क्या है? कुछेक महात्मा गाँजा पीकर झूम क्यों रहे हैं? मन की इतनी–सी फिसलन के कारण एक जन्म और लेना पड़ा। महाराज जी सर्वथा अक्लिष्ट वृत्ति में चल रहे थे, मन में स्फुरण से क्लिष्ट वृत्ति में आ गये।

शब्द पर महापुरुषों ने बहुत बल दिया है–

शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहो कहाँ लौं जाय।
द्वार न पावे शब्द का, फिर फिर भटका खाय।। (कबीर)

शब्द के बिना चिन्तन में जो सुरति लगायी जाती है, अन्धी है। शब्द के बिना श्रुति का अध्ययन बुद्धिस्तर के अनुसार अटकल लगाना मात्र है। यदि शब्द का द्वार नहीं मिला, भजन जागृत नहीं हुआ; शब्द, अर्थ और उसका ज्ञान समझते हुए आचरण में ढालते नहीं बना तो बार-बार भटकना पड़ता है। अनुभव को भी पढ़ना पड़ता है। भगवान लिंग-अलिंग, प्रतीक या बिना प्रतीक के ही जानकारी देते रहते हैं। यह विद्या पढ़नी पड़ती है। यही है-'**शब्द-ज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः।**' शब्द को समझें कि इष्ट द्वारा कहा क्या गया? उसका आशय क्या है? उस शब्द से उत्पन्न ज्ञान के साथ मन में उठनेवाली वृत्ति, जिसका विषय-वस्तु इष्ट नहीं है किन्तु उसका विकल्प अवश्य है। यही विकल्प-वृत्ति है।

भगवान श्रीराम ने अनुज लक्ष्मण से कहा- माया के दो रूप हैं विद्या और अविद्या। '**एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव पड़ा भव कूपा।।**' **(मानस, ३/१४/५)** अविद्या दुष्ट है, अत्यन्त दुःखरूप है। उससे विवश होकर यह जीव भव-कूप में पड़ा है। '**एक रचइ जग गुन बस जाके। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताके।।**' **(मानस, ३/१४/६)** माया का दूसरा रूप विद्या है जो जगत् के तीनों गुणों को नियन्त्रित करने में समर्थ है। '**गुन बस जाके**'- सत्, रज और तम-तीनों गुणों को बस में करनेवाली है। किन्तु वह विद्यामाया प्रभु-प्रेरित है। यदि भगवान प्रेरणा न करें तो उसके पास कोई बल नहीं है, वह विद्या है ही नहीं। इस प्रकार द्रष्टा के सहारे चलनेवाली वृत्ति विकल्प-वृत्ति कहलाती है।

यह विकल्प-वृत्ति जो सर्वथा अक्लिष्ट है, विजातीय दृश्य प्रत्यक्ष होते ही यह क्लिष्ट की ओर परावर्त हो सकती है। जैसे- यह साधन-पथ दुर्गम है, कुछ काल के लिये भोग त्याज्य नहीं है। एक कुटिया बना लेना बहुत परिग्रह तो नहीं है!

अब निद्रा-वृत्ति के लक्षण बताते हैं-

अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।।१०।।

अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करनेवाली वृत्ति निद्रा है। न तो यह संसार के मिथ्याज्ञान से बँधी है और न शब्द से उत्पन्न ज्ञान ही है। यह वृत्ति की सुप्तावस्था है– जब व्यक्ति न प्रकृति की ओर गतिशील है और न स्वरूप की ही ओर गतिशील है। इन महापुरुष ने इसे भी वृत्ति की सुप्तावस्था माना है। यह वृत्ति निद्रा है।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी। (गीता, २/६९)- 'जगत्‌रूपी रात्रि में सभी अचेत पड़े हुए हैं।'– यह निद्रा–वृत्ति है। जगत्‌रूपी रात्रि में प्राय: लोग प्रकृति में आसक्त रहते हैं; किन्तु निद्रा–वृत्तिवाला प्रकृति की जड़ता से भी नहीं बँधा है। मान लें, दो मार्ग हैं। एक पर प्रकाश ही प्रकाश और दूसरा अंधकार से परिपूर्ण! दोनों के मध्य एक पगडंडी पर कोई व्यक्ति चला जा रहा है- एक पाँव इस मार्ग पर, दूसरा उस मार्ग पर। कभी इधर देखता है, कभी उधर। यह निद्रा की वृत्ति है- न संसार की ओर, न स्वरूप की ओर!

हम भी जब पूज्य महाराज जी की शरण में आये, महाराजश्री ने कहा, "कुच्छउ नहीं जानत है!" वास्तव में हमें कुछ भी जानकारी नहीं थी। एकदम निद्रा–वृत्ति! न तो संसार की जड़ता थी, न भगवान की राह का ज्ञान था।

यह निद्रा–वृत्ति भी सदैव नहीं रहेगी। ज्योंही कुछ प्रत्यक्ष हुआ, अनुमान लगा, वृत्ति गतिशील हो उठेगी। शुभ प्रत्यक्ष हुआ तो अक्लिष्ट वृत्ति, अशुभ पड़ा तो वृत्ति क्लिष्ट हो जायेगी। किसी वैभवसम्पन्न व्यक्ति को देखा, सांसारिक जीवन में सफलता की कामना करने लगा। जो है ही नहीं, 'मिथ्याज्ञानम्' की ओर आकृष्ट हो क्लिष्ट वृत्ति का सृजन कर बैठा। कहीं आगम प्रमाण मिल गया महापुरुष का दर्शन, तो वह परमात्मा की ओर उन्मुख हो जायेगा, अक्लिष्ट वृत्ति प्रवाहित हो जायेगी।

यह सम्पूर्ण वृत्तियाँ जिस पर अंकुरित होती हैं, वह धरातल है स्मृति–

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।।११।।

भूतकाल में जिन कार्यों का अनुसरण होता चला है उनका पुनः प्रकट हो जाना, न छिपना स्मृति–वृत्ति है।

कैवल्यपाद के सप्तम सूत्र में महर्षि पतञ्जलि बताते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उनके कर्मों का न शुभ संस्कार पड़ता है न अशुभ; क्योंकि वे स्वरूपस्थ हैं। किन्तु अन्य लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं– भले, बुरे और मिश्रित। प्राणी और उसके संस्कारों के बीच जाति अर्थात् जन्म, देश और काल का व्यवधान बना रहता है। चित्तवृत्ति का एक प्रकार से दूसरे में परिवर्तित हो जाना जाति अर्थात् एक जन्म है। शरीर परिवर्तित हो गया, यह भी जन्म है। इन जन्म-परिवर्तनों, देश और काल का व्यवधान होने पर भी संस्कारों के प्रकट होने में कोई व्यवधान नहीं होता। ठीक समय पर वैसा ही प्रकट हो जाता है; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। स्मृति वह धरातल है जहाँ संस्कार प्रकट होते हैं। संस्कार स्मृति-पटल पर उभरते हैं। किन्तु एक स्तर ऐसा आता है जब चित्त का निरोध हो जाता है, ऐसी दशा में **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थ मात्रनिर्भासा निर्वितर्का।'** (१/४३) स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो गयी, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो गया, लक्ष्यमात्र का आभास रह गया– यह निर्वितर्क समाधि है। उस समय स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो जाती है। उसमें न कुछ भला अंकुरित होता है न बुरा; क्योंकि चित्त का स्वरूप ही शून्य हो गया। अन्तिम संस्कार भी उभरकर सामने आ चुका, फल दे चुका और शान्त हो चुका, उस समय स्मृति पूर्णतः शुद्ध है; किन्तु जीवित है।

स्मृति कोई वृत्ति नहीं है। महर्षि ने वृत्तियों को समझाने के लिए पाँच तरीके से बाँटा है। उनमें से यह ऐसा धरातल है जिस पर शेष वृत्तियाँ उद्भूत होती हैं। अंतिम संस्कार के निकलते ही चित्त का स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, स्मृति परिशुद्ध हो जाती है, केवल लक्ष्यमात्र का आभास रह जाता है, उस समय निर्वितर्क समाधि की अवस्था आ जाती है।

अतः स्मृति वह धरातल है जिस पर पूर्व में अनुसरण किये हुए अनन्तकाल के संस्कार अंकुरित होते हैं। ये क्लिष्ट भी हो सकते हैं, अक्लिष्ट भी।

श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं– "इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र आदि मनु से इसी को कहा।" उन्होंने कुछ दिया नहीं, केवल कहा। मनु ने उसे अपनी स्मृति में

धारण कर लिया। यह आध्यात्मिक प्रक्रिया आरम्भ से ही चली आ रही है। मानव के प्रादुर्भाव के साथ ही यह प्रसारित हुई और तब से लेकर अब तक वृत्ति के दो ही रूप हैं- दैवी सम्पद् और आसुरी सम्पद्। एक परमश्रेय प्रदान करती है, अक्लिष्ट है; तो दूसरी अधोगति की ओर ले चलती है, क्लिष्ट है। यही है- शुभ-अशुभ, प्रवृत्ति मार्ग-निवृत्ति मार्ग, सजातीय-विजातीय, विद्या-अविद्या। (विद्या जो परमगति प्रदान करती है, अविद्या जो भवकूप में भरमाती है।) यही है पुण्यमयी प्रवृत्ति-पापमयी प्रवृत्ति, धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र। कालक्रम से भाषाएँ बदलती गईं, इनके सम्बोधन बदलते गये; किन्तु वृत्तियाँ दो ही रहीं- एक ईश्वरोन्मुखी वृत्ति और दूसरी अनन्त योनियों में बार-बार भटकानेवाली वृत्ति। किन्तु महर्षि पतञ्जलि ने इन वृत्तियों की गति को समझने-समझाने के लिये इन्हें पाँच दृष्टियों से लिया। वृत्ति संचालित कैसे होती है? प्रमाण से! वृत्ति किस धरातल पर अंकुरित होती है? स्मृति-पटल पर! यदा-कदा यह सुषुप्त रहती है तो निद्रा। यह चलती है किसकी प्रेरणा से? किस दिशा में? विपरीत ज्ञान की जड़ता का बन्धन है तो 'विपर्यय' तथा द्रष्टा-दृश्य के संयोग से जो शब्द मिलता है उसको समझना और लगना-यह 'विकल्प' है। इस प्रकार वृत्तियों को कई दृष्टियों से रेखांकित किया गया है जिससे साधक सरलता से वृत्तियों की चाल को समझ सके और चल सके।

वृत्तियाँ शान्त कैसे हों? वृत्तियों का निरोध कैसे हो? इसके लिये आरम्भिक उपाय बताते हैं-

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।।१२।।

उन चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। इन्हीं से साधन का आरम्भ है। पूर्तिपर्यन्त ये साथ चलते हैं। इन दोनों में से प्रथम 'अभ्यास' का स्वरूप देखें-

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।।१३।।

चित्त की स्थिरता के लिये जो यत्न किया जाता है, वह अभ्यास कहलाता है। यह अभ्यास वृत्तियों के अन्तिम निरोध तक चलता है, इसलिये इसका भली प्रकार पालन करना चाहिए। इस पर कहते हैं-

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः।।१४।।

किन्तु वह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर तथा श्रद्धा के साथ करते रहने से दृढ़ होता है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- '**स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्ण चेतसा।**' (६/२३) वह योग न उकताये हुए चित्त से निश्चयपूर्वक करना कर्त्तव्य है। धैर्यपूर्वक लगा रहनेवाला ही योग में सफल होता है।

अब वैराग्य का स्वरूप बतलाते हैं–

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।।१५।।

लोक और परलोक के देखे-सुने विषयों में तृष्णारहित चित्त की वशीकार नामक अवस्था वैराग्य है। अर्थात् संसार में जो कुछ देखा-सुना गया है, यहाँ से लेकर स्वर्ग तक के भोगों में राग का त्याग वैराग्य कहा गया है। यही वैराग्य-अभ्यास सम्पन्न होने पर पुरुष विदित हो जाता है, जिससे 'पर-वैराग्य' की अवस्था आती है–

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।।१६।।

पुरुष अर्थात् परमतत्त्व परमात्मा के ज्ञान से द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है, उस समय प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव पर-वैराग्य है, वैराग्य की पराकाष्ठा है।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, '**रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।**' (२/५९)-इन्द्रियों को विषयों से समेटनेवालों का राग भी परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात्कार करके निवृत्त हो जाता है। जब श्रेष्ठतर कुछ भी प्राप्तव्य नहीं है तो साधक तृष्णा भी करे तो किसमें? जिस पुरुष के ज्ञान से 'पर-वैराग्य' की उपलब्धि हुई है, उसका स्वरूप क्या है? पूर्ण ज्ञान की पूर्व अवस्था का चित्रण करते हुए कहते हैं–

वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः।।१७।।

वितर्क, विचार, आनन्द तथा अस्मिता के साथ जो समाधि होती है, वह संप्रज्ञात कहलाती है। योग में सुरत सम है, योग भली प्रकार ज्ञात है किन्तु इस योग में वितर्क चलता रहता है। साधनपाद, सूत्र ३३ में कहते हैं-'**वितर्कबाधने**

प्रतिपक्षभावनम्।'- योग-साधन में विरोधी भाव आने पर उनमें कमजोरी देखना, उनके द्वारा होनेवाली अनिष्ट की भावना करके उनसे बचना प्रतिपक्ष भावना है। ऐसे वितर्क भी उठते हैं, उनके निवारण के लिये विचार भी चलता रहता है। ज्योंही निवारण हुआ, आनन्द भी है। और अस्मिता– प्रकृति-पुरुष का मिश्रण, इनसे मिली-जुली चित्त का जो समाधान है वह सम्प्रज्ञात योग की अवस्था है। अब देखें प्राप्ति–

विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः।।१८।।

जब वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता पर भी विराम लग जाय, अभ्यास करते-करते इस पूर्व अवस्था पर जहाँ विराम लग गया, जिसमें चित्त का स्वरूप संस्कार मात्र ही शेष रहता है, वह योग अन्य ही है अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि है अर्थात् वह कैवल्य की अवस्थावाला है, सूक्ष्म है, अनिर्वचनीय है। जिसमें अनेक जन्म से चले हुए पथिक ही इस स्थिति तक पहुँच पाते हैं। जैसे-अनेक जन्मों के पश्चात् जब बुद्ध राजप्रासाद में जन्मे, वह उनका प्राप्तिवाला अन्तिम जन्म था। काकभुशुण्डि का अंतिम जन्म एक हजार जन्म पश्चात् प्राप्तिवाला जन्म था। गुरु महाराज का भी अंतिम जन्म प्राप्ति वाला था। जड़भरत, शुकदेव, ध्रुव, भगवान श्रीकृष्ण इत्यादि ऐसे महापुरुष थे जिन्हें पूर्णत्व की प्राप्ति जन्मना थी। ऐसे महापुरुषों का योग शीघ्र सिद्ध होता है। क्योंकि–

भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्।।१९।।

भजन करते-करते जिनकी विदेहावस्था आ गयी, प्रकृति लय हो चली है ऐसे योगियों को इस योग की प्राप्ति में 'भवप्रत्यय' अर्थात् जन्म ग्रहण करना ही माध्यम होता है, भजन का विशेष सहयोग नहीं रहता; जैसे– शुकदेव, श्रीकृष्ण, ध्रुव इत्यादि होते आये हैं। इन्होंने जन्म लिया। जन्मते ही इनके सामने सिद्धियाँ भली प्रकार कार्य कर रही थीं। इनका भजन पूर्ण हो चुका है। अब पूर्णत्व की प्राप्ति में इनका जन्म लेना ही माध्यम है।

ध्रुव ने पूछा, "भगवन्! सुना है, साधक करोड़-करोड़ वर्ष यत्न करते हैं तब कहीं आप दर्शन देते हैं। हमें आप अत्यन्त अल्प साधन से ही मिल गये।

ऐसी अनुकम्पा क्यों?" भगवान ने कहा, "वत्स! तुम कई जन्मों से भजन करते आये हो। इस पहाड़ को देखो जो अस्थिपंजरों का ढेर है। यह सब तुम्हारी ही हड्डियाँ हैं। यहीं चट्टान पर तुमने भजन किया, इसी स्थल पर तुम्हारा शरीरपात हुआ। यह तुम्हारा प्राप्तिवाला जन्म है। प्राप्ति में छः माह ही शेष थे जिसे तुमने पूर्ण कर लिया। अब तुमने अचल पद प्राप्त कर लिया।"

महाभारत में कथा आती है कि भगवान श्रीकृष्ण पिछले दस जन्मों से लगातार चिन्तन-परायण थे। वे उन जन्मों में विष्णु, वामन, नारायण इत्यादि रूपों में अवतार भी कहलाये; किन्तु अपूर्ण थे। "राजन्! इस जन्म में यह परब्रह्म परमात्मा के रूप में आपके साथ हैं, विजय आपकी होगी- ऐसा हमें देवर्षि नारद जी ने बताया है।"-युधिष्ठिर को सान्त्वना प्रदान करते हुए अर्जुन ने ऐसा कहा। वस्तुतः भगवान के जन्म के साथ ही उनकी अलौकिक विभूतियाँ प्रदर्शित होने लगी थीं। भजन स्वल्प ही शेष था। "आप तीन दिन बद्रिकाश्रम में ध्यानस्थ हुए। ब्राह्मवेला में दो बजे से ही उठकर आँखों पर जल के छींटे देकर भजन में बैठ जाया करते थे।"-इस प्रकार श्रीकृष्ण भवप्रत्यय योगी थे। भव माने शरीर! इनकी पूर्णत्व प्राप्ति में जन्म लेना ही माध्यम था, साधन नहीं।

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।' (३/४३)- बाहर देखी-सुनी वस्तु में कल्पनारहित वृत्ति का सीधा प्रवाह जब चलता हो-यह महाविदेहावस्था है। इसके जागृत होते ही ज्योतिर्मय द्रष्टा आत्मा और तुम्हारे बीच का आवरण शान्त हो जाता है। इस स्थितिवाले साधक का शरीर यदि छूट जाता है तो जन्म लेना ही उसकी पूर्णता का माध्यम बन जाता है। उसकी प्राप्ति में 'भवप्रत्यय'-पुनः जन्म लेना ही माध्यम है न कि साधना। साधना तो उसकी पूरी हो चुकी। इसीलिए इन महापुरुषों का योग तत्काल सिद्ध होता है। किन्तु अन्य लोगों का योग कैसे सिद्ध होता है? इस पर कहते हैं-

श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्।।२०।।

दूसरे साधकों का चित्तवृत्ति-निरोध और लक्ष्यप्राप्तिरूप योग श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रमशः सिद्ध होता है।

पहले तो ईश्वर-पथ में श्रद्धा आवश्यक है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि बिना श्रद्धा के होमा हुआ हवन, दिया हुआ दान, किया हुआ कर्म सब व्यर्थ चला जाता है, इसलिये-

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।। (गीता, ४/३९)

अर्जुन! श्रद्धावान्, संयतेन्द्रिय तथा तत्परायण पुरुष उस ज्ञान को प्राप्त होता है जिसे प्राप्त करने के पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। ईश्वर-पथ में श्रद्धा-भाव अनिवार्य है। श्रद्धा के बिना भगवान से कुछ मिलता ही नहीं, सब व्यर्थ चला जाता है। इसलिये इस पथ में श्रद्धा अनिवार्य है, वह भी केवल ईश्वर के प्रति! ईश्वर के स्वरूप की चर्चा महर्षि इसी पाद के चौबीसवें सूत्र में करेंगे। इस पथ में दूसरी आवश्यकता मन की दृढ़ता है। साधक को शौर्य के साथ कमर कसकर साधना में लगना चाहिए। ऐसा न हो कि थोड़ा कष्ट मिलते ही पीछे हट गये। ध्रुव, प्रह्लाद या मीरा की तरह टेक के साथ लगने का विधान है। साधक को लक्ष्य सदैव स्मृत रहना चाहिए। सदैव सचेतावस्था अनिवार्य है। खाते-पीते, उठते-बैठते, प्रत्येक क्रियाकलाप के साथ सुरत लक्ष्य पर टिकी रहे। सुरत जिह्वा के स्वाद या इन्द्रिय-भोगों में रस न लेने लगे। ईश्वरीय सन्देशों, निर्देशनों को पकड़नेवाली बुद्धि प्रज्ञा कहलाती है। प्रज्ञापूर्वक क्रम-क्रम से यह योग सिद्ध होता है। पूर्ण श्रद्धा, पूर्ण पराक्रम तथा पूर्ण स्मृति के साथ रहनेवाले साधकों के कई स्तर हैं-

तीव्रसंवेगानामासन्नः।।२१।।

जिनके साधन की गति तीव्र है उनके लिये यह योग शीघ्र सिद्ध होता है। अभ्यास और वैराग्य की साधना में आनेवाले विघ्नों को टालते हुए अपने लक्ष्य पर अडिग रहनेवाले चित्तवृत्तियों का निरोध शीघ्र कर लेते हैं। साधना की मात्रा भी प्राप्तिकाल को प्रभावित करती है-

मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः।।२२।।

साधना की हल्की, मध्यम और उच्च मात्रा के अनुसार तीव्र गति से चलनेवाले योगियों की सिद्धि में भी भेद हो जाता है, प्राप्तिकाल में कुछ

अन्तराल बढ़ जाता है। किसी साधक के अन्तराल में संस्कारों का वेग अधिक है, किसी के संस्कार अल्प हैं। उसी के अनुसार लक्ष्य की प्राप्ति में शीघ्रता अथवा विलम्ब हो सकता है।

भगवान बुद्ध बोधगया में भजन कर रहे थे। पाँच भिक्षु भी उन्हीं के समीप साधना कर रहे थे। एक दिन उन्होंने बुद्ध को भोजन करते देखा। उन्होंने बुद्ध को शरीर में आसक्त समझ उनका साथ छोड़ अन्यत्र तप करने सारनाथ चले आये। इधर बुद्ध को स्थिति मिल गयी। उन्हें आदेश मिला कि अल्प मल वालों का कल्याण करें! तथागत सीधे वहीं चले आये, जहाँ वे पाँचों भिक्षु थे।

दूर से ही गौतम को देखकर उन भिक्षुओं ने निश्चय किया था कि इनका अभिवादन न किया जाय, स्वागत में चरण न धुलाया जाय। किन्तु ज्योंही तथागत समीप पहुँचे, सब खड़े हो गये। किसी ने तौलिया लिया, किसी ने जल प्रस्तुत किया। किसी ने आसन लगाया, किसी ने चरण प्रक्षालन कराया। तथागत बैठ गये। उन भिक्षुओं ने प्रश्न किया। बुद्ध का उपदेश आरम्भ हुआ। उपदेश के दौरान ही एक को स्थिति मिल गयी। दूसरे को चौदह दिन पश्चात् कैवल्यपद प्राप्त हो गया। तीसरे भिक्षु को उन्हीं उपदेशों पर चलकर दो माह पश्चात् परम नैष्कर्म्य-सिद्धि प्राप्त हुई, जबकि उन सबने साधन में एक जैसा ही श्रम किया था। यही कारण है कि तीव्र संवेगवालों में भी प्राप्ति में काल का भेद हो जाता है। अब बताते हैं, अभ्यास किसमें करें?

महर्षि ने पहले तो यह बतलाया कि वैराग्य और अभ्यास बिना उकताये चित्त से, सांगोपांग निरन्तर करने पर दृढ़ स्थितिवाला होता है। इससे चित्तवृत्तियाँ शान्त और निरुद्ध हो जाती हैं; किन्तु उन्होंने यह नहीं बताया कि अभ्यास में चित्त को कहाँ ठहरायें? आरम्भ कहाँ से करें? इस पर कहते हैं–

ईश्वरप्रणिधानाद्वा।।२३।।

अथवा ईश्वर के प्रति समर्पण से समाधि की सिद्धि शीघ्र होती है। किन्तु ईश्वर को हमने देखा नहीं! ईश्वर का स्वरूप क्या है? इस पर कहते हैं–

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।।२४।।

क्लेश, कर्म, विपाक और आशय– इन चारों से जो '**अपरामृष्टः**'–

सम्बन्धित नहीं है, पूर्णतः निर्लेप है, परे है, जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह पुरुषविशेष ईश्वर है। यही ईश्वर की परिभाषा है।

संसार क्लेश, कर्म, कर्मों के संग्रह और उसके आशय से बँधा है। इन सबसे अत्यन्त परे (जैसे कभी कोई सम्बन्ध था ही नहीं– इतना परे) विशेष पुरुष ईश्वर है। क्लेश अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश– जो जीव के दुःख के कारण हैं; शुभ, अशुभ, मिश्रित एवं शुभाशुभरहित कर्म, उनके परिणाम और उन कर्म-संस्कारों की वासना से जो सर्वथा उपराम है, ईश्वर है।

देखें, उस ईश्वर की विशेषता–

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।।२५।।

वह ईश्वर सर्वज्ञता का कारण है, वह अनन्त सर्वज्ञता का सहज स्रोत है। इसी प्रकार अन्यान्य गुणों का भी स्रोत है। बिना किसी सहयोग के वह सबको जानता है, सब देखता और समझता है। उसके लिये कुछ भी जानना शेष नहीं है। वह ईश्वर–

पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।।२६।।

वह ईश्वर '**पूर्वेषाम्**'- पूर्व में जो प्रत्याशी होते आये हैं, उन गुरुओं का भी गुरु है; क्योंकि '**कालेनानवच्छेदात्**'- काल से उसका अवच्छेद नहीं है, वह अकालपुरुष है। सृष्टि में अनन्त गुरु हुए हैं उनमें प्रवाहित गुरुत्व यही है। काल से परे है। भगवान श्रीकृष्ण को गीता में '**गुरुर्गरीयान्**'-गुरुओं का भी परम गुरु कहा गया है।

उस ईश्वर को कैसे पुकारें? उसका नाम क्या है?–

तस्य वाचकः प्रणवः।।२७।।

उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव, ओंकार ॐ है।

गीता, सत्रहवें अध्याय के तेईसवें श्लोक में है– 'ॐ, तत् और सत्- यह तीनों उस परब्रह्म परमात्मा का निर्देश करते हैं, स्मृति दिलाते हैं। इसी ओम् के द्वारा यज्ञ, वेद और ब्राह्मण रचे गये हैं।' '**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म**'-'ओम्'

इतना ही अक्षय ब्रह्म का परिचायक है। उस ईश्वर का नाम प्रणव है; क्योंकि प्राणों द्वारा ही उसका संचार है। प्रणव और ओम् पर्यायवाची शब्द हैं।

तज्जपस्तदर्थभावनम्।।२८।।

उस ओम् का जप और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का ध्यान, ईश्वर-प्रणिधान है।

पहले बताया गया कि अभ्यास दीर्घकाल तक बिना उकताये चित्त से आदरपूर्वक निरन्तर करना चाहिए; किन्तु यह नहीं बताया गया कि अभ्यास में किया क्या जाय? यहाँ महर्षि स्पष्ट करते हैं कि ओम् का जप करें और उसके अर्थस्वरूप उन परमेश्वर का ध्यान करें। उनके प्रति श्रद्धा स्थिर करें। किन्तु ईश्वर को हमने देखा नहीं, तब चिन्तन कैसे करें? पहले ध्यान श्रद्धा से ही होता है, क्रमशः ईश्वर ही बोध करा देता है कि सद्गुरु कौन हैं। ध्यान सद्गुरु का ही किया जाता है। सद्गुरु अव्यक्त ईश्वरस्वरूप हैं, मानव-तन के आधारवाले हैं। गीता (९/११) में योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि मैं परम का स्पर्श करके परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु हूँ मनुष्य-शरीर के आधारवाला! यही सद्गुरु का स्वरूप है। जब सद्गुरु का परिचय मिल जायेगा तब ध्यान और स्पष्ट हो जायेगा।

भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में ईश्वर का निवास और ईश्वर-प्राप्ति का उपाय :-

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गीता, १८/६१)- अर्जुन! वह ईश्वर सम्पूर्ण प्राणियों के हृदयदेश में निवास करता है। जब इतना समीप है तो लोग उसे देखते क्यों नहीं? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "मायारूपी यन्त्र में आरूढ़ होकर लोग भ्रमवश भटकते रहते हैं, इसलिये नहीं देख पाते।" तो शरण किसकी जायँ? अगले ही श्लोक में भगवान कहते हैं-

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।(गीता,१८/६२)

अर्जुन! उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ, सम्पूर्ण भावों से जाओ। थोड़ा भाव किसी अन्य देवता में है; थोड़ा भूत, भवानी, यक्ष राक्षसादि में

उलझ गया, तब तो आपकी श्रद्धा बँट गयी। अतः सम्पूर्ण भावों से हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ। परम्परागत मान्यताएँ समाज में प्रचलित हैं। इन्हें तोड़ना कठिन होता है। मान लें कि हमने मान्यताएँ तोड़ीं, मात्र एक ईश्वर की शरण में चले ही गये, उससे लाभ? '**तत्प्रसादात्परां शान्तिं**'–उसकी कृपा से तुम परमशान्ति प्राप्त कर लोगे और उस स्थान को प्राप्त कर लोगे जो शाश्वत है, सनातन है। सदैव तुम रहोगे, तुम्हारा अस्तित्व रहेगा और निवास भी शाश्वत हो जाएगा। इसी का नाम है अक्षयधाम, कैवल्य पद।

किन्तु हृदयस्थित ईश्वर को हमने देखा नहीं, उसकी शरण में जायँ तो कैसे? उसकी विधि क्या है? अगले ही श्लोक में कहते हैं– अर्जुन! इससे भी अति गोपनीय मेरे रहस्ययुक्त वचन को सुन,

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।। (गीता, १८/६५)

अर्जुन! मुझमें मन को लगा, मुझे नमस्कार कर, मेरा अनन्य भक्त हो। मैं सत्य कहता हूँ, तू मुझमें निवास करेगा।

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।(गीता,१८/६६)

अर्जुन! सम्पूर्ण धर्मों का परित्याग कर दो। एकमात्र मेरी शरण हो जा। मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूँगा। तू शोक न कर।

भगवान ने पहले दो श्लोकों में बताया कि ईश्वर का निवास हृदय में है, उसकी शरण जाओ। अगले ही दो श्लोकों में कहते हैं, "नहीं! सारे धर्मों की चिन्ता छोड़ केवल मेरी शरण में आओ।" मन तो एक है। सम्पूर्ण भाव हृदयस्थ ईश्वर में भीतर लगायें या दूसरा बाहर जो श्रीकृष्ण खड़े हैं उनकी शरण में जायँ?

वास्तव में यदि हृदयस्थित ईश्वर को प्राप्त करना है तो वर्तमान में जो ईश्वरभाव को प्राप्त शरीर में सद्गुरु हैं, उनकी शरण में जाना होगा। श्रीकृष्ण एक योगेश्वर एवं सद्गुरु थे। अतः सम्पूर्ण भावों से इन सद्गुरु की शरण जाना है।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा, '**मानुषीं तनुमाश्रितम्**' (गीता, ९/११)- मैं परम का स्पर्श कर परमभाव में स्थित हूँ; किन्तु मनुष्य-तन के आश्रित हूँ। शरीर तो एक आधार है। ऐसे सद्गुरु के स्वरूप के ध्यान की विधि बतलाते हुए भगवान कहते हैं-

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति
विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।। (गीता, ८/११)

प्रत्यक्षदर्शी महापुरुष जिसे अविनाशी कहते हैं, वीतराग महापुरुष, परम विरक्त जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसे चाहनेवाले ब्रह्मचर्य आदि कठोर व्रतों का पालन करते हैं उस परमपद को मैं संक्षेप में कहूँगा-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (गीता, ८/१२)

सम्पूर्ण इन्द्रियों के दरवाजों को संयमित कर, वासनाओं से समेट कर, मन को हृदय-देश में स्थिर कर, अन्तःकरण में योगविधि धारण कर-

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्।। (गीता, ८/१३)

'ओम्' जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उस नाम का जप करते हुए '**मामनुस्मरन्**'- मेरे स्वरूप का भली प्रकार ध्यान धरते हुए, सतत चिन्तन करते हुए जो देहाध्यास का त्याग कर जाता है तत्क्षण वह परमगति को प्राप्त हो जाता है। यहाँ श्रीकृष्ण ने हृदयस्थ उस ज्योतिर्मय ईश्वर को प्राप्त करने के लिये ईश्वर की ही शरण जाने पर बल दिया। किन्तु ईश्वर को हमने देखा नहीं, शरण जायँ तो कैसे? इस पर उन्होंने कहा कि मेरी शरण में आओ। श्रीकृष्ण के ही शब्दों में वह एक सद्गुरु हैं अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के लिये ईश्वर-भाव को प्राप्त सद्गुरु की शरण जाओ। सद्गुरु एक अवस्था है, एक स्थिति है। इन सद्गुरु की शरण, उनके चरणों का ध्यान ही एक उपाय है।

भगवान कहते हैं– "अर्जुन! '**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्**'- चार वर्णों की रचना मैंने की।" तो क्या चार भागों में मनुष्यों को बाँट दिया? भगवान कहते हैं– "नहीं, '**गुणकर्मविभागशः**' (**गीता, ४/१३**)- गुणों के माध्यम से कर्म को चार श्रेणियों में बाँटा।" गुण एक पैमाना है, तराजू है। गुण तीन हैं– सात्त्विक, राजस और तामस। तामसी होगा तो आलस्य-प्रमाद रहेगा, राजसी होगा तो कामनाओं का बाहुल्य रहेगा, सात्त्विक होगा तो धारणा-ध्यान की पकड़ सहज हो जायगी। इन गुणों के माध्यम से ही कर्म को चार भागों में भगवान ने बाँटा। योग-विधि यज्ञ है, उसे क्रियान्वित करना कर्म है। गीता के अनुसार कर्म केवल आराधना है, चिन्तन है, योग की निश्चित विधि है। इसीलिये इसे नियत कर्म कहा गया। इस नियत कर्म को भगवान ने चार भागों में बाँटा– अति उत्तम, उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। इसके कर्त्ता मुझ अव्यक्त आत्मा को तू अकर्त्ता ही जान! आप बोलते हैं, शरीरधारी हैं, विभाजन करते हैं तो आप अकर्त्ता क्यों? इस पर भगवान कहते हैं–

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।। (गीता, ४/१४)

अर्जुन! कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते; क्योंकि कर्मों के फल में मेरी स्पृहा नहीं है। इस कर्म का फल है परमात्मा। परमतत्त्व परमात्मा का दर्शन, स्पर्श और स्थिति मुझसे भिन्न नहीं है। मैं वही अव्यक्त स्वरूप हूँ। कर्मों का फल मुझसे विलग नहीं है। '**इति मां योऽभिजानाति**'- इस स्तर से जो भी मुझे जान लेता है उसे भी कर्म नहीं बाँधते। श्रीकृष्ण जो भी रहे हों-पुरुषोत्तम, परब्रह्म, वह स्थिति सबके लिये सुलभ है।

इसी आशय को यहाँ महर्षि पतंजलि ने भी प्रस्तुत किया है कि ईश्वर का वाचक प्रणव है उसका जप करें और उसके अर्थस्वरूप ईश्वर का चिन्तन करें – जो सर्वज्ञ है, गुरुओं का गुरु है, सद्गुरु है। किन्तु शरीर के अन्तराल में कुछ ऐसे विघ्न हैं जो जप और ध्यान में मन को टिकने ही नहीं देते। इस पर कहते हैं–

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च।।२९।।

उक्त साधन नाम (ओम्) के जप और ईश्वर सद्गुरु के ध्यान के अभ्यास से '**अन्तरायाभावः**'-अन्तराय अर्थात् विघ्नों का अन्त हो जाता है तथा अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

जिन विघ्नों का अभाव हो जाता है वे कौन हैं? इस पर कहते हैं–

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।।३०।।

व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व ये नौ चित्त के अन्तराय हैं, आन्तरिक विघ्न हैं। बाह्य संग-दोष न होने पर भी साधक को भीतर ही भीतर उद्वेलित कर देते हैं जिससे साधन में मन नहीं लगता। इन विघ्नों में सर्वप्रथम 'व्याधि' अर्थात् रोग है। शरीर या किसी इन्द्रिय में रोग उत्पन्न हो जाना, चित्त का उससे प्रभावित हो जाना और चिन्तन छूट जाना व्याधि है। दूसरा विघ्न 'स्त्यान' अर्थात् चित्त की अकर्मण्यता है। इच्छा होने पर भी साधन में प्रवृत्त न होने का स्वभाव स्त्यान है। योग-साधन के फल में अथवा अपनी ही शक्ति में सन्देह हो जाना 'संशय' है। साधनों के अनुष्ठान की अवहेलना, साधन के अतिरिक्त अन्य व्यर्थ की वार्ता में समय नष्ट करना 'प्रमाद' है। चित्त अथवा शरीर के भारी होने के कारण नाम-जप या ध्यान में मन न लगना 'आलस्य' है। अधिक भोजन कर लेने से अथवा पेट साफ न होने से भी आलस्य बढ़ जाता है। '**आलस्य निद्रा जमुहाई, तीनों काल के भाई।**' आलस्य से बचने के लिये महात्मा लोग स्वल्प भोजन, स्वल्प निद्रा का अनुष्ठान करते हैं तथा सदा सचेत रहते हैं। भजन करते-करते कभी ऐसा संयोग आ जाता है कि वासना ही प्रिय लगने लगती है, वैराग्य में त्रुटि आने लगती है, यही 'अविरति' है। योग के साधनों तथा उसके फल को मिथ्या मान लेना 'भ्रान्तिदर्शन' है। साधन करने पर भी योग की भूमिकाओं में स्थिति का प्राप्त न होना 'अलब्धभूमिकत्व' है। इससे साधक का उत्साह भंग हो जाता है। योग-साधन से किसी भूमिका में चित्त की स्थिति होने पर भी उसमें चित्त का न ठहरना 'अनवस्थितत्व' अन्तराय है। ईश्वर-प्रणिधान, ॐ के जप तथा ईश्वर के सतत ध्यान-चिन्तन से ये

अन्तराय भली प्रकार शान्त हो जाते हैं। इन विघ्नों का साथ देनेवाले पाँच विघ्न और हैं–

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।।३१।।

दुःख, मन का क्षोभ, अंगों में कम्पन, अनियमित श्वास-प्रश्वास ये पाँच विघ्न '**विक्षेपसहभुवः**'-व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमादादि उपर्युक्त नौ विक्षेपों के साथ उत्पन्न होते हैं। दुःख तीन प्रकार के हैं- दैहिक, दैविक और भौतिक। देहजन्य विकार से चिन्तन में मन न लगना दैहिक दुःख है; जैसे-वायु का प्रकोप, स्नायविक व्याधियाँ इत्यादि। शरीर में रोग अथवा वासनाओं से चित्त की चंचलता दैहिक दुःख का कारण है। जल तथा वायु द्वारा भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, अत्यधिक ग्रीष्म, शीत इत्यादि दैविक दुःख कहे जाते हैं। जड़, चेतन, स्थावर प्राणियों द्वारा मिलनेवाला आघात भौतिक दुःख है; जैसे- भगवान महावीर भजन में बैठे थे। किसी चरवाहे ने उनके कान में कुश की कील ठोंक दी।

बहुत से साधक कहते हैं, 'यह सज्जन ठीक नहीं हैं, हमसे द्वेष रखते हैं।' आप भजन करने आये हैं या लोगों की भावना संग्रह करने! मन में अनमनापन, खिन्नता, इच्छा के विरुद्ध घटित होने पर क्षोभ इत्यादि 'दौर्मनस्य' है। अंगों में आकस्मिक कम्पन 'अंगमेजयत्व' है। चिन्तन में सुरत स्थिर होते ही जिस पल मन विचारों से रिक्त होता है, शरीर को एक झटका-सा लगता है। साधक उछल पड़ता है। आगे-पीछे, दाएँ-बायें कहीं गिर भी सकता है। इससे सतर्क करते हुए पूज्य महाराजजी निर्देश देते थे कि साधक का आसन न अति नीचा और न अत्यन्त ऊँचा ही होना चाहिए। इस प्रकार शारीरिक कम्पन अंगमेजयत्व है और कभी-कभी इन व्याधि इत्यादि अन्तरायों के प्रभाव से योग का सांगोपांग अनुष्ठान नहीं हो पाता। योग के किसी अंग के अनुपालन में त्रुटि आ जाने से मन खिन्न हो जाता है। हठात् श्वास का बाहर निकल जाना भी योग का सह-विक्षेप है। जो कुछ भी साधक ने थोड़ा-बहुत सीखा है, न चाहते हुए भी उस जानकारी का व्यक्त हो जाना प्रश्वास-सम्बन्धी विक्षेप है। अनधिकारी द्वारा उपदेश एक ऐसी ही चेष्टा है। उसी तरह श्वास-सम्बन्धी विक्षेप क्लिष्ट

संकल्प, वाह्य संकल्पों का साधक के भीतर प्रवेश कर जाना है जिससे साधक व्यर्थ चिन्तन करने लग जाता है।

ये विघ्न बार-बार मन को उद्वेलित करते ही रहते हैं। इन्हें शान्त करने के उपायों पर महर्षि प्रकाश डालते हैं–

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः।।३२।।

उन विक्षेपों तथा उप-विक्षेपों को दूर करने के लिये एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिए। नाम या रूप में से किसी भी एक स्थान पर बारम्बार चित्त को समेटकर स्थिर करने का यत्न करना चाहिए। क्षण में नाम, क्षण में रूप-ऐसा नहीं, जिसमें मन अधिक लगता हो उसी में अधिक देर तक अभ्यास बढ़ायें। इस प्रकार करने से विघ्न शान्त होकर चित्तवृत्ति भजन में लगनेवाली हो जाती है। साधक संसार में रहकर ही भजन करता है, भले-बुरे लोग टकराते ही रहते हैं। उनसे निर्लेप रहने की विधि बताते हैं–

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्।।३३।।

सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापियों के विषय में यथाक्रम मित्रता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना से चित्त निर्मल होता जाता है।

राग, रोष, ईर्ष्या, मद, मोह, असूया, अपकार, द्वेष इत्यादि चित्त के मल हैं। **'रागु रोगु इरिषा मदु मोहू। जनि सपनेहुँ इन्हके बस होहू।।' (रामचरितमानस, २/७४/५)** वस्तु के प्रति लगाव राग है। दूसरों के गुणों में भी दोष देखना असूया है। इन मलों से निवृत्ति हेतु प्रस्तुत सूत्र में महर्षि कहते हैं कि सुखी व्यक्तियों के प्रति मैत्रीभाव रखना चाहिए। गीता (५/२१) में है कि बाहर संसार के विषय-भोगों में अनासक्त पुरुष अन्तरात्मा में जो सुख है, उस सुख को प्राप्त होता है। वह पुरुष परमब्रह्म परमात्मा के साथ मिलन से युक्त आत्मावाला है, इसलिये वह अक्षय सुख का अनुभव करता है– जिस सुख का कभी क्षय नहीं होता। इस सुख का उपभोग कौन कर सकता है? जो बाहर के विषय-भोगों से अनासक्त है! ऐसे सुखी व्यक्तियों में प्रीति रखने से साधना में सहयोग मिलता है।

समस्त आप्तपुरुषों की वाणी में सुख एक ही प्रकार का है– एक हरि की भक्ति! रामचरितमानस में है–

श्रुति पुरान सब ग्रन्थ कहाहीं। रघुपति भगति बिना सुख नाहीं।।
(मानस, ७/१२१/१४)

हिम ते अनल प्रगट बरू होई। बिमुख राम सुख पाव न कोई।।
(मानस, ७/१२१/१४)

अतः इन ईश्वर–परायण पुरुषों में मैत्रीभाव से चित्त–निरोध की दशा में सहायता मिलेगी; क्योंकि उनकी संगति से जो भी उपलब्धि होगी वह साधना–परायण ही होगी। इसी प्रकार संसार में फँसे, आकण्ठ डूबे दुःखी व्यक्तियों के प्रति दया की भावना होनी चाहिए, न कि घृणा की भावना। '**दया बिन सन्त कसाई। दया करी तो आफत आई।**' सीता ने रावण को भिक्षा देने में दया की, जिसका परिणाम उन्हें लंका जाना पड़ा। एक स्तर से पहले साधक के लिये दया का विधान नहीं है, उसे सतत चिन्तन में ही अनुरक्त रहने का विधान है। दया सन्त का सहज स्वभाव है। साधक को भी दुःखियों के प्रति करुणा की भावना रखनी चाहिए; किन्तु भावना रखने और दुःख निवृत्तिहेतु क्रियाशील हो उठने में अन्तर है जिसके लिए इष्ट के आदेशों के अनुपात में ही संलग्न होना चाहिए। पुण्यात्माओं के प्रति मन में प्रसन्नता की भावना रखनी चाहिए। गीता में कर्म की नियत विधि को ही पुण्यकर्म कहा गया है। इस नियत कर्म का आचरण करनेवालों के प्रति प्रसन्नता की भावना होनी चाहिए कि भगवान की इन पर कितनी कृपा है, यही विधि है, इन्हीं सोपानों पर मुझे भी चलना है; न कि उनकी नकल करने लगें या उनमें दोष ढूँढने लगें। पापात्मा अर्थात् जो पतन की ओर उन्मुख हैं– ऐसे लोगों का संसर्ग होने पर उनके गुण–दोषों से तटस्थ रहना चाहिए– '**उदासीन नित रहिअ गोसाईं। खल परिहरिअ स्वान की नाईं ।।**' **(रामचरितमानस, ७/१०५/१५)** उसका त्याग नहीं, असंग रहना चाहिए।

व्यक्ति बुरा नहीं होता, उसकी परिस्थिति ही ऐसी है। आप उनसे कुछ ग्रहण न करें। इन भावनाओं से चित्त निर्मल होने लगता है। चित्तवृत्ति को स्वच्छ करने के लिए अन्य उपाय बतलाते हैं–

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य।।३४।।

अथवा प्राणवायु को बारम्बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त स्थिर होता है।

श्वास को बाहर निकालें। जितना सम्भव हो उसे बाहर रोकें। बार-बार श्वास बाहर निकालें और रोकें। चार-छः बार भी ऐसा करने से दूषित वायुमण्डल बाहर हो जाता है। चिन्तन में बैठने पर मन शीघ्र एकाग्र होता है। चिन्तन, भजन, नाम, रूप में मन अधिक लगता है।

चित्त को स्थिर करने का एक अन्य उपाय महर्षि बतलाते हैं-

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।।३५।।

हमारा जो विषय-वस्तु है- योग, चित्तवृत्ति का निरोध, अन्तरायों से मुक्ति, ईश्वर-प्रणिधान, नाम-रूप का सतत चिन्तन- इन विषयों में लव लग जाय, प्रवृत्ति जग जाय। विषय के अनुरूप प्रवृत्ति मन की स्थिति को बाँधनेवाली होती है।

चिन्तन का स्तर उन्नत हो जाने पर ईश्वरीय सहयोग मिलने लगता है, वह भी मन स्थिर करने में सहायक होता है-

विशोका वा ज्योतिष्मती।।३६।।

प्रकाशमय, ज्योतिर्मय द्रष्टा एकमात्र परमात्मा है उस ज्योतिस्वरूप द्रष्टा का दर्शन होने पर भी मन की तरंगें शान्त हो जाती हैं। भगवान की अनुकूलता का अनुभव कर साधक का उत्साह बढ़ जाता है। यह दर्शन विघ्नों का शमन कर मन को स्थिर करने में सहायक होता है-

वीतरागविषयं वा चित्तम्।।३७।।

वीतराग अर्थात् रागमुक्त महापुरुषों की जीवनचर्या को अंतःकरण में धारण करने से चित्त स्थिर होता है। ऐसे आप्तपुरुषों की स्थिति, उनकी रहनी, उनकी प्राप्ति का स्मरण, चिन्तन-मनन करने से, उसके अनुरूप अपने को ढालने से भी चित्त स्थिर होने लगता है, विघ्न शान्त होने लगते हैं। एक उपाय है स्वप्न-

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा।।३८।।

निद्राकाल में स्वप्न का ज्ञान अवलम्बन करनेवाला चित्त भी स्थिर हो जाता है। पूज्य गुरु महाराज का कहना था- योगी कभी स्वप्न नहीं देखता। वह जो कुछ देखता है होनी देखता है, भविष्य देखता है। वह स्वप्न में भी साधना की पकड़, क्लिष्ट और अक्लिष्ट वृत्ति का विकास कैसा है- इसे देखता है। निद्राकाल में जो दृश्य मिलता है भगवान से प्रसारित होता है, सद्गुरु से मिलता है। उसका अनुसरण करनेवाला चित्त स्थिरता की ओर अग्रसर हो जाता है।

यथाभिमतध्यानाद्वा।।३९।।

जैसा अभिमत है- ईश्वर-शरणागति, ओम् के जप से अन्तरायों का अन्त, चित्तवृत्ति का शान्त प्रवाहित होना, समाधि की जागृति, चित्त का एकाग्र होना- ऐसा कहीं से कुछ मिले, उसे ध्यान में लेने से चित्तवृत्ति स्वच्छ हो जाती है। वातावरण को साधना के अनुरूप ढाल लेना, आशय को बदलकर साधन के अनुकूल ढाल लेना यथाभिमत ध्यान है।

एक बार अर्जुन चिन्तनरत था। अकस्मात् कर्णकुहरों में संगीत-लहरी झनझना उठी। उसने सिर उठाकर देखा तो उर्वशी खड़ी थी जो देवलोक की अप्सरा, नृत्यांगना थी। सभी उसके रूप पर मुग्ध हो झूम रहे थे। किन्तु अर्जुन ने उसे स्नेहिल दृष्टि से मातृवत् देखा। शब्द-रूप से मिलनेवाले विकारों के स्थान पर अर्जुन ने आशय बदलकर साधनानुकूल मातृवत् ध्यान किया।

पूज्य महाराज जी के संरक्षण में साधनरत एक महात्मा निराधार विचरण की अनुमति चाहते थे। उनके बार-बार आग्रह पर महाराज जी ने अनमनस्क भाव से अनुमति दे दी। वह महात्मा कुछ ही दूर आये होंगे, छोटे बच्चे पाँव के बीच लकड़ी डालकर घोड़े का खेल खेल रहे थे। अचानक एक लड़का एक पाँव उठाकर कूदते हुए कहने लगा- '**लँगड़ा चींटा चला रिसाय। नौ दिन में बीता भर जाय।। अस्सी कोस जमुना का तीर। कै दिन में पहुँचा वह वीर।।**' इतना सुनते ही उन महात्मा को अपशकुन होने लगा। उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि बच्चे तो खेल-खेल में कुछ बोलते ही हैं,

इस पर हमें अपशकुन क्यों हो रहा है? क्या वह मेरे लिये कह रहा है? भगवान ने समाधान दिया कि हाँ, तुम्हारी यही दशा है। तुम्हारा वैराग्य लंगड़ा है। योगरूपी यमुना दूर है। तुम्हारी गति औसतन एक इंच प्रतिदिन है। अभी तुम्हारी क्षमता नहीं है। बस, वे लौट आये।

महाराज जी कहते थे, "हो! भगवान जब कृपा करते हैं तो पेड़ से, पौधे से, पशु से, पक्षी से, मनुष्य से- कहीं से भी प्रेरणा कर सकते हैं, बोल सकते हैं और पढ़ा देते हैं। वे सर्वत्र हैं इसलिये सर्वत्र से बोल सकते हैं।" इस प्रकार साधना में जो सहायक हो उसी को आशय में ढालकर ध्यान करते जायँ। ऐसा करने से चित्त स्वच्छ, निर्मल और स्थिर होता जाता है।

भगवान दत्त ने चौबीस उदाहरणों से शिक्षा ग्रहण की। अजगर में भी उन्हें साधनोपयोगी एक गुण दृष्टिगत हो गया। उन्होंने देखा, भारी भरकम अजगर के मुख के समीप कोई-न-कोई जीव-जन्तु आ ही जाता जो उसका आहार बन जाता था। दत्त भगवान ने उससे सीखा कि साधु को उदर-पोषण के लिये द्वार-द्वार नहीं घूमना चाहिए। अजगर कोई गुरु नहीं था; किन्तु भगवान दत्त ने उससे भी सद्‌गुरुओं की विद्या को उद्‌दीप्त करनेवाला एक गुण आचरण में ढाल लिया।

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः।।४०।।

इस प्रकार ध्यान करते-करते योगी का मन परमाणु से लेकर परम-महत्त्व के विषय पर एकाग्रता का अधिकार प्राप्त कर लेता है। उस समय अत्यन्त सूक्ष्म परमाणु से लेकर बड़ी से बड़ी जिस किसी वस्तु में एक बार सुरत स्थिर हो गई, चित्त वहाँ स्थिर रहेगा। यह योगी के जीते हुए चित्त की विशेषता है। अभ्यास करते-करते जब साधक का चित्त भली-भाँति स्थिति की योग्यता प्राप्त कर लेता है उस समय वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म पदार्थ से लेकर महानतम पदार्थ तक जहाँ चाहे तत्काल स्थिर कर सकता है।

गीता में भगवान कहते हैं- '**यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृतः।**' (६/१९)- वायुरहित स्थान में रखे हुए दीपक की लौ जिस प्रकार सीधे ऊपर जाती है, योगी के भली प्रकार ठहरे हुए चित्त की यही उपमा है। न

उसके चित्त में भले उद्वेग पैदा होते हैं न बुरे; न हृदय से उद्वेग पैदा हों, न वाह्य वायुमण्डल के संकल्प उसके भीतर प्रवेश कर पायें- यह योगी के जीते हुए स्थिर चित्त की परिभाषा है। ऐसे चित्त में साधना का क्या स्वरूप है?

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु
तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।।४१।।

जिसकी क्लिष्ट, अक्लिष्ट समस्त वृत्तियाँ क्षीण हो गई हैं, उसका चित्त ग्रहीता अर्थात् साधक पुरुष, ग्रहण अर्थात् अंतःकरण की दृष्टि सुरत और ग्राह्य ईश्वर एवं उसका नाम इत्यादि में उसी प्रकार तदाकार (तद्रूप) हो जाता है, जैसे उत्तम जाति की विशुद्ध स्फटिक मणि जिस वस्तु के समक्ष होती है वैसा ही रंग धारण कर लेती है। ग्रहीता, ग्रहण और ग्राह्य का बोध सम्प्रज्ञात समाधि है, जिसमें साधक को अपना एवं अपनी स्थिति का भान रहता है कि मैं कहाँ हूँ? कैसा हूँ? अब समाधि के अगले चरण पर प्रकाश डालते हैं-

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।।४२।।

'**समापत्तिः**' अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधियों में भी शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण अर्थात् मिश्रित चित्त का समाधान सवितर्क समाधि है।

संसार में तरह-तरह के शब्द लोग सुनते ही रहते हैं, उसका अर्थ लगाते हैं, वस्तुओं का ज्ञान भी प्राप्त करते हैं; किन्तु उससे किसी की समाधि लगती दिखायी नहीं देती। वस्तुतः द्रष्टा और दृश्य के संयोग से भगवान जो प्रेरणा देते हैं उसी का नाम शब्द है। संत कबीर कहते हैं-

शब्दै मारा गिर पड़ा, शब्द छुड़ाया राज।
जिन जिन शब्द विवेकिया, तिन्ह के सर गयो काज।।

जब शब्द पकड़ में आया, साधक गिर पड़ा, समर्पित हो गया। 'मैं ज्ञानी हूँ, ध्यानी हूँ'- ऐसा अहं खो गया। शब्द में इतना बल है कि कोई राज्य- सुख तिनके की तरह त्यागकर अलग हो गया और जिन-जिन ने शब्द पर विवेक किया '**तिन्हके सर गयो काज**'-उनके कार्य की सिद्धि हो गयी, बेड़ा पार हो गया।

'शब्द बिना श्रुति आँधरी' कोई चिन्तन में मन लगाता है, सुरत में स्वरूप पकड़ता है किन्तु उसके साथ निरीक्षक-परीक्षक के रूप में शब्द नहीं मिलता, भगवान निर्णय नहीं देते तो सुरत भी अन्धी है।

शब्द बिना श्रुति आँधरी, कहो कहाँ लौं जाय।
द्वार न पाये शब्द का, फिर-फिर भटका खाय।।

यदि शब्द का स्रोत नहीं मिला तो सुरत लगाने और योग साधने से कोई लाभ नहीं! जाने कहाँ ले जाकर पटक दे! ये शब्द हैं भगवान के। द्रष्टा स्वयं जो दृश्य प्रसारित करते हैं, जिसका प्रयोजन पुरुष के लिये साधनोपयोगी भोग तथा मोक्ष प्रदान करना है। वे द्रष्टा जैसा-जैसा दृश्य प्रस्तुत करते हैं, उसका नाम है शब्द। चित्त शान्त प्रवाहित है, ऐसे में कैसा शब्द सुनायी-दिखायी पड़ा उसका अर्थ और उसकी जानकारी- इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण (मिली हुई) चित्त की समाधि सवितर्क है। यहाँ परमात्मा तो नहीं है, केवल सम्प्रज्ञात समाधि है; किन्तु परमात्मा का विकल्प भली प्रकार पुष्ट है। कबीर कहते हैं- **'शब्द सो प्रीति करे सो पावे।'** इससे उन्नत समाधि की अवस्था निर्वितर्क है, जिस पर प्रकाश डालते हैं-

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।।४३।।

जब चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, केवल लक्ष्यमात्र का ही आभास रह जाता है, उस समय **'स्मृतिपरिशुद्धौ'**- स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो जाती है, तब वह निर्वितर्क समाधि है। न शब्द है, न अर्थ है, न ज्ञान है, चित्त का स्वरूप ही शून्य हो गया, कौन शब्द सुने तथा कौन ज्ञान रखे, लक्ष्य का आभास मात्र है उस समय स्मृति विशेष रूप से शुद्ध है, यह निर्वितर्क समाधि की अवस्था है; क्योंकि स्मृति और संस्कार का एक ही स्वरूप होता है। अब स्मृति-पटल पर कोई संस्कार अंकुरित नहीं होगा। कैवल्यपाद के नवम सूत्र में महर्षि बताते हैं कि जाति अर्थात् जन्म-परिवर्तन, देश और काल के लम्बे अन्तराल से भी संस्कारों में परिवर्तन या विराम नहीं होता। वे ठीक समय पर प्रकट होते हैं, किन्तु यहाँ वे संस्कार निर्मूल हो गये फिर भी संस्कारों का बीज अभी बना हुआ है; क्योंकि चित्त अभी जीवित है। इससे उन्नत अवस्था पर प्रकाश डालते हैं-

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।।४४।।

'एतया एव'-इसी से (पूर्वोक्त सवितर्क और निर्वितर्क के वर्णन से) सविचार और निर्विचार समाधि का तथा **'सूक्ष्मविषया'**- साधना की सूक्ष्म अवस्था का भी वर्णन कर दिया गया है।

अब देखें इन समाधियों का परिणाम-

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्।।४५।।

साधना की इन अति सूक्ष्म अवस्थाओं में **'अलिङ्गपर्यवसानम्'**- प्रकृति की अति सूक्ष्म परतों, मूल प्रकृतिपर्यन्त भली प्रकार वशीकार हो जाता है। अब प्रकृति भी उसे उद्वेलित नहीं कर सकती।

ता एव सबीजः समाधिः।।४६।।

उपर्युक्त सवितर्क, निर्वितर्क, सविचार, निर्विचार समाधियाँ निर्विकल्प होने पर भी निर्बीज नहीं हैं। चित्त का बीज विद्यमान है इसलिए ये सब-की-सब सबीज समाधि ही हैं। इन चार प्रकार की समाधियों में भी निर्विचार समाधि के निर्मल हो जाने पर-

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः।।४७।।

निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर योगी में **'अध्यात्मप्रसादः'**- आत्मिक विभूतियाँ भली प्रकार प्रसारित हो जाती हैं। सनातन पुरुष अजन्मा, शाश्वत जिन विभूतियोंवाला है, वे सारी विभूतियाँ योगी को प्राप्त हो जाती हैं। आत्मा का आधिपत्य स्थापित हो जाता है। आत्मिक विभूतियों का सारा प्रसाद उसे प्राप्त हो जाता है। अब कोई विभूति उससे अलग नहीं है। उस समय योगी की बुद्धि ऋतंभरा होती है।

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।।४८।।

उस समय योगी की प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतंभरा अर्थात् सत्य से संयुक्त हो जाती है। अब वह परमतत्त्व परमात्मा को धारण करने की क्षमतावाली हो जाती है। जब अध्यात्म का प्रसाद मिल गया तो अब केवल परम चेतन को पाना मात्र शेष रह गया। यह बुद्धि साधारण बुद्धियों से अलग है। इस पर कहते हैं-

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्।।४९।।

श्रुत अर्थात् श्रवण किये हुए और अनुमान से होनेवाली बुद्धि की अपेक्षा इस ऋतम्भरा प्रज्ञा का विषय भिन्न है। जिसका ज्ञान श्रुत और अनुमान से नहीं होता उसकी जानकारी इस प्रज्ञा से होती है; क्योंकि यह विशेष अर्थवाली है। विशेष पुरुष ईश्वर है, उस अर्थवाली है, उसको ग्रहण करने की क्षमता वाली है, इसलिए श्रवण और अनुमान से जो बुद्धि तैयार होती है उसकी अपेक्षा यह बुद्धि अत्यन्त परिमार्जित है। इस बुद्धि का विषय भिन्न है; क्योंकि यह केवल प्रकृति से परे आत्मा (द्रष्टा) को धारण करने की क्षमतावाली है।

'**श्रुत**'-केवल सुनने से कोई बुद्धि तैयार नहीं होती। श्रवणेन्द्रिय में कोई ध्वनि टकराते ही स्पर्श, रूप, रस इत्यादि प्रत्येक के अभ्यास तथा अन्य जन्मों के संस्कार स्मृति-पटल पर उभरते ही अनुमान का सूत्रपात होने लगता है, वस्तुओं की जानकारी हो जाती है; किन्तु यह प्रज्ञा विशेष अर्थवाली है।

श्रुति या सुरत मन की दृष्टि है। यह भला-बुरा सब कुछ ग्रहण करती है। सुरति में स्फुरण के साथ ही अनुमान होने लगता है; किन्तु इस ऋतंभरा प्रज्ञा का स्तर उससे उन्नत है। यह '**पुरुषविशेष ईश्वरः**' को धारण करने की क्षमता वाली होती है। इसके महत्त्व पर पुनः प्रकाश डालते हैं-

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी।।५०।।

इस ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार अन्य समस्त संस्कारों का प्रतिबन्धक होता है, उन सबका निरोध कर देता है। इसके पश्चात् प्रकृति बाधक नहीं रह जाती। अब कोई संस्कार प्राप्ति में बाधक नहीं होता।

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः।।५१।।

ऋतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार भी जब शान्त हो जाता है, उस समय सर्वनिरोध के साथ निर्बीज समाधि हो जाती है। ऋतंभरा प्रज्ञा के प्रभाव से जब अन्य समस्त संस्कारों का अभाव हो जाता है, उससे उत्पन्न संस्कार ईश्वर को धारण करने की क्षमतावाला हो जाता है, वह ईश्वर मिलकर इस संस्कार को भी शान्त कर देता है- इस प्रकार संस्कारों के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने

से इस अवस्था का नाम निर्बीज समाधि है। इसी को कैवल्य पद, कैवल्य समाधि भी कहते हैं।

निष्कर्ष-

योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि ने इसके चार पादों में प्रथम पाद समाधिपाद में योग-निरूपण के क्रम में बताया कि योग एक अनुशासन है। अनुशासित किसे करें? उन्होंने बताया, 'चित्त की वृत्तियों को!' वृत्तियों को अनुशासित कर ही लिया तो उससे क्या लाभ है? महर्षि ने बताया, "उस समय द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति हो जाती है।" क्या इसके पूर्व द्रष्टा स्थित नहीं था? क्या द्रष्टा मलिन था? महर्षि बताते हैं, "इसके पूर्व जैसा वृत्तियों का प्रवाह था, वही द्रष्टा का रूप था।"

वृत्तियाँ अनन्त हैं। समस्त वृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं, क्लिष्ट या अक्लिष्ट। कुछ क्लेश प्रदान करती हैं और कुछ क्लेशों से मुक्ति दिलाती हैं। इन वृत्तियों को पाँच प्रकार से विभाजित किया गया है- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति। प्रमाण वृत्तियों को संचालित करता है। प्रमाण के तीन भेद बताये गये- प्रत्यक्ष, आप्तपुरुषों के दर्शन तथा अनुमान। इन इन्द्रियों के समक्ष कुछ भी प्रत्यक्ष हुआ, अनुमान लगा और वृत्ति गतिशील हो गयी। यदि प्रमाण अविद्याजन्य मिला तो यह क्लिष्ट वृत्ति बन गयी। आप्तपुरुषों का दर्शन और उनकी वाणी मिल गयी तो वृत्ति अक्लिष्ट हो गयी। प्रमाण वृत्तियों को केवल संचालित करता है। प्रमाण पाते ही वृत्ति गतिशील हो उठती है। विपर्यय मिथ्याज्ञान है, अविद्याजन्य है, जिसमें मिथ्याज्ञान को ही जड़तावश ज्ञान मान लिया जाता है। विकल्प शब्द के सहारे मिलनेवाली जानकारी है जिसमें वस्तु तो शून्य है किन्तु वस्तु का विकल्प पुष्ट होता जा रहा है। यह अनुभव से संचालित है। इसका नाम दैवी सम्पद् भी है। किन्तु प्रमाण विपरीत मिल गया तो यह वृत्ति क्लिष्ट हो सकती है। यदि प्रमाण इष्टोन्मुखी मिल गया तो विपर्यय वृत्ति भी अक्लिष्ट स्वभाव की हो जायेगी। वृत्ति की चौथी अवस्था है निद्रा - जो न तो मिथ्याज्ञान की जड़ता से बँधी है, न अनुभव से ही

संचालित है। अभाव का आलम्बन करनेवाली यह वृत्ति निद्रा है, जो न तो सजातीय संस्कारों का अर्जन कर रही होती है न विजातीय संस्कारों का। कभी इधर तो कभी उधर, भले-बुरे का कुछ ज्ञान ही नहीं है। पाँचवाँ प्रकार है स्मृति। समस्त वृत्तियाँ स्मृति-पटल पर अंकित रहती हैं। अवसर आने पर अंकुरित होती हैं। स्मृति भी उस समय शुद्ध हो जाती है जब चित्त का निज स्वरूप शुद्ध हो जाय-'**स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्ये**'। जब मात्र लक्ष्य का आभास रह जाय, समाधि की उस अवस्था में वृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। अनन्त वृत्तियाँ इन्हीं पाँच रूपों में घटती-बढ़ती कार्यरूप लेती रहती हैं।

इन वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य द्वारा किया जा सकता है। अभ्यास किसका करें? '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**' अभ्यास का आश्रय ईश्वर है। उसका नाम प्रणव है। ओम् का जप करें और उस ईश्वर का ध्यान धरें। इससे अन्तराय (विघ्न) शान्त हो जायेंगे। नाम और रूप के अतिरिक्त जो हमें अभिमत है- योग, चित्तवृत्तियों का निरोध- जो साधन इस योग में अवरोध उत्पन्न न करते हों, साधना में सहायक हों उनका भी अभ्यास किया जा सकता है। ऐसे चार-पाँच सहयोगी साधनों की चर्चा महर्षि ने की; जैसे- स्वप्न में मिलनेवाले निर्देशों या दृश्यों से शिक्षा ग्रहण करना, ज्योतिर्मय परमात्मा में ध्यान केन्द्रित करना, आप्तपुरुषों के संसर्ग में रहना इत्यादि। इस अभ्यास से चित्त स्फटिक मणि के समान निर्मल, पारदर्शी हो जाता है। प्रज्ञा ऋतम्भरा हो जाती है, विशेष पुरुष ईश्वर को धारण करनेवाली हो जाती है। अमृतपद का बोध कराकर उसकी प्राप्ति और उसमें स्थिति दिलाकर प्रज्ञाजन्य संस्कार भी शान्त हो जाता है। यही कैवल्य है, अमृतपद है जहाँ मृत्यु का समावेश नहीं; सदा रहनेवाला सुख, सदा रहनेवाली शान्ति और सदा रहनेवाला जीवन है। इसके साथ ही प्रथम पाद 'समाधिपाद' पूर्ण होता है।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

द्वितीय अध्याय – साधनपाद

प्रथम अध्याय में योगदर्शनकार महर्षि पतञ्जलि ने अभ्यास और वैराग्य से साधना का आरम्भ बताया। धैर्यपूर्वक इनके सतत अभ्यास द्वारा चित्तवृत्तियाँ शान्त हो जाती हैं। उन्होंने स्पष्ट किया कि अभ्यास किसका करें। ईश्वर का स्वरूप बताया, जो क्लेश और कर्मों से अत्यन्त परे है। वह ईश्वर गुरुओं का भी गुरु है। उस ईश्वर में सर्वज्ञता का सहज बीज है। उसका नाम प्रणव है। उस ओम् का जप करें, ईश्वर का चिन्तन करें। इससे योगमार्ग के विघ्न शान्त होंगे, आप समाधि की ओर अग्रसर होते जायेंगे। उन्होंने समाधि के सहयोगी साधनों का उल्लेख किया। स्वप्न से सहयोग, आप्तपुरुषों की रहनी और उनके दर्शन से सहयोग लेने का निर्देश दिया। योग का अनुष्ठान, जो आपको अभिमत है उसके अनुकूल आशय बदल लेने की सम्मति दी; फिर भी ध्यान जमता नहीं, निरन्तर अभ्यास होता नहीं, नाम-रूप में चित्त नहीं टिकता। अतः इस द्वितीय अध्याय साधनपाद में सम्पूर्ण साधन-विधि प्रस्तुत करते हैं जिसमें योग के आठ अंगों का वर्णन लोकविश्रुत है। सर्वप्रथम महर्षि बतलाते हैं कि साधन आरम्भ कहाँ से होता है?–

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।।१।।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति) से योग की क्रिया आरम्भ होती है।

गत अध्याय में महर्षि ने एक ईश्वर का स्वरूप, एक ईश्वर की शरण और उसके नाम का जप बताया, अब प्रस्तुत अध्याय में वे कहते हैं कि मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप ढालना तप है। अपने मन का स्वयं अध्ययन करना स्वाध्याय है कि मन कितना लगना चाहिए और कितना लगा पाया हूँ, आप्तपुरुषों की वाणी के अनुरूप मैं कितना ढल पाया हूँ, अभी कितनी त्रुटियाँ हैं?–इस प्रकार स्वयं का अध्ययन करते हुए साधना में अग्रसर

होना स्वाध्याय है। ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् एक ईश्वर के प्रति मन, कर्म, वचन से समर्पण। बस इतना करते ही योगक्रिया आरम्भ हो जाती है। इस क्रियायोग की आवश्यकता ही क्या है? इस पर कहते हैं–

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च।।२।।

इन क्रियाओं से समाधि के प्रति श्रद्धा-भावना स्थिर हो जाती है तथा क्लेश क्षीण होकर बलहीन हो जाते हैं।

जिन क्लेशों को क्षीण होना है, वे कौन-कौन हैं?–

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।।३।।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पाँच क्लेश हैं। ये पाँचों क्लेश ही जीवमात्र को संसार-चक्र में घुमानेवाले महादुःखदायक हैं। यही जन्म-मृत्यु के कारण हैं। किन्तु इनमें भी प्रधान है अविद्या–

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्।।४।।

अविद्या परवर्ती चार क्लेशों अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश का उत्पादक क्षेत्र है। ये क्लेश प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार- इस प्रकार चार अवस्थाओं में रहते हैं। अस्मितादि सभी क्लेशों का कारण अविद्या है। ये चारों अविद्या से ही जागृत होते हैं। ये चारों मिट भी जायँ, अविद्या बनी रहेगी। यही सन्त कबीर के प्रस्तुत भजन में भी है–

पाँच सखी पाँचों गुनवन्ती, पाँच में सरबस एकै जनी।
बलम संग सोइ गयीं पाँचों जनी।। (कबीर)

क्लेश जब अपना कार्य नहीं करते, वह उनकी प्रसुप्त अवस्था है। इसका यह अर्थ नहीं है कि वे हैं ही नहीं। वे हैं, किन्तु क्रियाशील नहीं हैं। उद्दीपन पाने पर वे क्रियाशील हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, देवर्षि नारद हिमालय की कंदरा में तप करने लगे। हरि के स्मरणमात्र से एक स्थान पर दो घड़ी से अधिक न रुक पानेवाले दक्ष के श्राप की गति कुंठित हो गयी। तपस्या से इन्द्र विचलित हो उठे। उन्होंने मुनि को तपस्या से विरत करने के लिए अप्सराओं को प्रेरित किया; किन्तु **'काम कला कछु मुनिहि न ब्यापी।' (रामचरितमानस, १/१२५/७)**-देवर्षि पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। काम ने

उपाधि भी दे डाली कि 'आप जितेन्द्रिय हैं, मनोनिग्रही हैं।' ऐसा नहीं था कि उन्होंने काम को सदा-सदा के लिए जीत लिया था। वह विकार प्रसुप्त था। शीलनिधि राजा की सुन्दर नगरी, सुन्दर नर-नारी तथा सुन्दरी राजकन्या और उसकी हस्तरेखा देखते ही प्रसुप्त विकार जागृत हो गया। वह कहीं गया नहीं था, सुप्त था।

इस प्रकार क्लेश कभी प्रसुप्त रहते हैं, कभी योग-साधन के फलस्वरूप उनका प्रभाव क्षीण (तनु) हो जाता है। योग-साधना द्वारा शनैः-शनैः उनकी प्रभावोत्पादकता का ह्रास हो जाता है, तब ये हीनशक्तिवाले क्लेश 'तनु' कहलाते हैं। उन क्लेशों का जितना प्रभाव विषयी लोगों पर पड़ता है, उतना प्रभाव वे साधकों पर नहीं डाल पाते।

क्लेशों की विच्छिन्न अवस्था तब होती है जब दूसरे क्लेश क्रियाशील रहते हैं। जैसे कोई राग से आप्लावित है तो उस समय उसमें द्वेष दिखायी नहीं देता, वह विच्छिन्न है। वह कहीं गया नहीं है, किन्तु उस समय ऐसा आभास होता है मानो दूसरे क्लेश हैं ही नहीं।

जिस समय कोई क्लेश अपना कार्य पूर्णतः कर रहा हो, वह उस क्लेश की उदार अवस्था है। जो भोग में आकर शान्त होनेवाला है, यही उसकी उदारता है।

इन सभी क्लेशों का मूल कारण जिस अविद्या को इस सूत्र में कहा गया उसका स्वरूप क्या है?

अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।।५।।

अनित्य, अपवित्र, दुःख तथा अनात्मा में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मभाव की प्रतीति अविद्या है। **'सत्य वस्तु है आत्मा, मिथ्या जगत पसार'**– सत्य अर्थात् नित्य, एकरस द्रष्टा पुरुष! संसार में शरीर और शरीरों के सम्बन्ध अनित्य हैं। इस अनित्य संसार को नित्य मान बैठना अविद्या है।

इसी प्रकार जो अपवित्र है, अन्ततः दुःखों का ही कारण है उसे पवित्र मानना, उसी में सुख की अनुभूति करना अविद्या है। सन्त कबीर की साखी में है–

झूठे सुख को सुख कहे, मानत है मन मोद।
जगत चबैना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद।।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा, "अर्जुन! आत्मा ही सत्य है और समस्त भूतादिकों के शरीर नाशवान हैं, इनका अस्तित्व नहीं है, यह सब अनात्मा है।" फिर भी शरीरों को आत्मा मानना अविद्या है। यही सब दुःख के कारण हैं, फिर भी उसी सांसारिक वातावरण में ऐश्वर्य और सुख की मान्यतायें गढ़ लेना अविद्या है।

सारांशतः जो परमात्मा नहीं है उसी को भगवान माने हुए लोग बैठे हैं। इस प्रकार अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा मानना, उसमें व्यस्त रहने का नाम ही अविद्या है। अब शेष क्लेशों में अस्मिता का स्वरूप बतलाते हैं–

दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता।।६।।

दृक्–शक्ति और दर्शन–शक्ति इन दोनों का एकरूप–सा हो जाना 'अस्मिता' है। दृक्–शक्ति अर्थात् द्रष्टा–पुरुष तथा दर्शन–शक्ति अर्थात् मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियाँ जिन उपकरणों पर दृश्य उभरते हैं इन दोनों की एकरूपता अस्मिता है। द्रष्टा चेतन है और उपकरण जड़। द्रष्टा अपने को मन, बुद्धि, चित्त इत्यादि मान बैठता है– **'जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।' (रामचरितमानस, ७/११६/४)** चेतन का जड़ के साथ यही मिश्रण अस्मिता नामक क्लेश है। अब देखें 'राग'–

सुखानुशयी रागः।।७।।

सुख की प्रतीति के पीछे दौड़नेवाले मन के स्वभाव को 'राग' कहते हैं। जिस किसी वस्तु में सुख की प्रतीति होती है, तुरन्त उससे लगाव हो जाता है। यह भी एक क्लेश है। अनुकूल पदार्थों में सुख की प्रतीति तथा उसे सदैव भोगने की आकांक्षा आसक्ति है, यही राग है। यह राग नामक क्लेश सुख की प्रतीति के साथ–साथ रहनेवाला कहा जाता है। इसी प्रकार 'द्वेष' का स्वरूप देखें–

दुःखानुशयी द्वेषः।।८।।

प्रकृति के जिस किसी पदार्थ में दुःख की प्रतीति होती है, मन उसका विरोध करने लगता है। यही द्वेष नामक क्लेश है। दुःख के पीछे रहने वाली प्रतीति द्वेष है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

इन्द्रियस्येन्द्रिस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।। (३/३४)

इन्द्रियों और इन्द्रियों के भोगों में राग और द्वेष निवास करते हैं। साधन-पथ के ये दुर्जय शत्रु हैं। इनके वश में नहीं आना चाहिए। राग और द्वेष इन्द्रियों और भोगों के टकराव से होते हैं। भोग अनुकूल मिला तो राग तथा प्रतिकूल मिल गया तो द्वेष का भाव पनपने लगता है। साधक को इनसे सतर्क रहना चाहिए। अब अन्तिम क्लेश अभिनिवेश का स्वरूप बताते हैं–

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः।।९।।

पूर्व-निवास के प्रति ममत्व अभिनिवेश है, जो मूढ़ों की ही भाँति विवेकशील पुरुषों में भी परम्परागत स्वभाव से विद्यमान है। जहाँ हम पहले निवास करते थे उसके प्रति खिंचाव, आकर्षण अभिनिवेश है। यह स्वर में प्रवाहित होकर जन्म-जन्मान्तरों तक पीछा करता है। सांसारिक निवास हमारा घर नहीं है। इसे हमने अपना मान भर रखा है–

तवन घर चेतिहे रे भाई। तोहरा आवागमन मिटि जाई।।
कह कबीर निज घर चलो। जहाँ काल नहीं जाय।।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "अर्जुन! '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' (१८/६१)- ईश्वर समस्त भूतप्राणियों के हृदय में निवास करता है। उस हृदयस्थित ईश्वर की शरण जाओ।" मान लें, किसी ने पूर्वाग्रह त्यागा और शरण चला ही गया तो उससे लाभ? भगवान कहते हैं, "**तत्प्रसादात्परा शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।**' (१८/६२)- उसके कृपा-प्रसाद से तुम परमशान्ति प्राप्त कर लोगे और उस निवास-स्थान को पा जाओगे जो शाश्वत है।" यही है आप का घर, जहाँ आपका जीवन सदैव रहेगा, निवास रहेगा।

साधक को इस अभिनिवेश से सतर्क रहना चाहिए। अगले पल प्राप्ति होनी है, किन्तु एक पल पूर्व तक यह अभिनिवेश पीछा करता है। पूज्य गुरुदेव को विचरणकाल में मधवापुर में चातुर्मास्य करने का निर्देश भगवान से मिला था। वहाँ महाराज सायंकाल विचरण में निकलते थे। एक गृह के समीप पहुँचने पर मन में आकर्षण होने लगा कि घर में घुस जायँ मानो यह अपना ही घर हो। दो-तीन बार ऐसा ही आकर्षण होने पर आपने इष्ट से जानना चाहा कि ऐसा क्यों होता है? भगवान ने बताया कि पिछले जन्म में दो-ढाई महीने इस घर में जन्म लेकर रहने का संस्कार पीछा कर रहा है। आपको जन्म देने वाली माता जी अभी जीवित हैं। महाराज जी ने भक्तों से जानना चाहा कि उस घर में क्या किसी दो-ढाई महीने के बच्चे का देहान्त हुआ है? गाँव में चर्चा हुई। वह वृद्धा माँ महाराज जी के पास आयीं, रो-रोकर उस पुत्र के गुणों का वर्णन कर रही थीं; किन्तु महाराज जी ने अनुभव में प्राप्त संकेतों को प्रकाशित नहीं किया। जीव प्रकृति में जहाँ-जहाँ भी रहता आया है, पूर्व-निवास का आकर्षण उसे खींचता रहता है। चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित होने पर निर्बीज समाधि की अवस्था में यह क्लेश भी शान्त हो जाता है, केवल अविद्या जीवित रहती है। बीज के शान्त होने पर वह भी शान्त हो जाता है।

कुछ लोग आत्मा के निवास शरीर में ममत्व और मरण-भय को अभिनिवेश कहते हैं; किन्तु ऐसा कुछ नहीं है। जीव विभिन्न शरीरों की यात्रा ही तो करता चला आ रहा है, किस-किस शरीर के प्रति ममत्व रखेगा? भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं, "अर्जुन! तू पण्डितों-जैसी बातें करता भर है किन्तु पण्डितजन जिनके प्राण चले गये और जिनके प्राण नहीं गये, उन सबके लिए शोक नहीं करते। शरीर में जैसे बाल्य, कैशोर, युवा, प्रौढ़ और वृद्धावस्थाएँ आती हैं, ऐसे ही अन्य शरीरों का परिवर्तन है। इसमें धीर पुरुष कभी मोहित नहीं होते।" योगसाधना में महापुरुषों ने यह भय छोड़कर ही प्रवेश लिया है; किन्तु जीव जहाँ अब तक जीवित रहा है, उस पूर्व-निवास के प्रति स्वाभाविक खिंचाव अंतिम संस्कार तक पीछा करता है और मूढ़ों की भाँति विवेकशील व्यक्तियों में भी पाया जाता है।

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः।।१०।।

क्रियायोग से सूक्ष्मावस्था को प्राप्त वे क्लेश आत्मपथ के विरोधी विकारों को ही '**प्रसव**'-उत्पन्न करनेवाले हैं, इसलिये '**हेयाः**'-नष्ट करने योग्य हैं।

क्लेशों से विपरीत परिणाम प्राप्त करने का उपाय क्या है? इस पर कहते हैं-

ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः।।११।।

क्लेश से संयुक्त वृत्तियाँ ध्यान द्वारा नाश करने योग्य हैं अर्थात् क्लेशों के निरसन के लिए ध्यान धरना है। ध्यान की विधि तीसरे पाद के द्वितीय सूत्र में द्रष्टव्य है। जहाँ कहा गया है कि अभ्यास में चित्त को जहाँ लगाया जाय वहाँ वृत्ति का एकरस चलना, उच्चाटन न होना ध्यान है। ध्यान द्वारा इन क्लेशों को मिटाना ही होगा; क्योंकि ये शुभाशुभ संस्कार दुःख के ही कारण हैं।

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः।।१२।।

क्लेश का मूल जब तक विद्यमान है, तब तक कर्म-संस्कारों का समुदाय दृष्ट अर्थात् वर्तमान में तथा अदृष्ट अर्थात् भविष्य में होनेवाले दोनों ही प्रकार के जन्मों में भोगा जानेवाला है। उन भोगों का स्वरूप क्या होगा? वे किस रूप में प्रकट होते हैं?-

सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।।१३।।

क्लेशरूपी मूल विद्यमान रहने तक '**तद्विपाकः**'-उस कर्म-संस्कार के संग्रह का परिणाम जन्म, पुनर्जन्म, आयु और भोग होता ही रहता है।

परिणाम के स्वरूप को अधिक स्पष्ट करते हैं-

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ।।१४।।

वे जन्म, आयु और भोग, हर्ष और शोकरूपी फल देनेवाले होते हैं; क्योंकि उनके कारण दो हैं- पुण्यकर्म और पापकर्म। पूर्णत्व की ओर ले जानेवाले कर्म पुण्यकर्म हैं तथा पतनोन्मुख कर्म पापकर्म हैं। पुण्यकर्म-अक्लिष्ट वृत्ति से संचालित कर्म जन्म, आयु और भोगों में हर्ष प्रदान करते हैं।

इसी तरह पापकर्म- क्लिष्ट वृत्ति से संचालित कर्म जन्म, आयु और भोगों के रूप में परिताप प्रदान करते हैं।

विवेकियों के लिए सुख की तृष्णा भी दुःख ही है-

परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।।१५।।

परिणामदुःख, तापदुःख और संस्कारदुःख सबमें विद्यमान रहने के कारण एवं तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकियों के लिए सब कर्मफल दुःखरूप ही हैं।

प्रत्येक कर्मफल भोगकाल के उपरान्त परिणामदुःख प्रदान करता है। आज हर्ष भले मना लें, कल इससे संश्लिष्ट दुःख भी आयेगा। उसके पास अधिक भोग हैं, हमारे पास कम क्यों?- ऐसी भावना तापदुःख कही जाती है। कभी-कभी न चाहता हुआ भी हठात् दुःख को प्राप्त हो जाता है। यह संस्कारदुःख है। **'गुणवृत्तिविरोधाच्च'**-सत्, रज, तम तीनों गुणों के स्वभाव में विरोध होने के कारण परस्पर विरोधी परिणाम प्रदान करती हैं। सात्विकी वृत्ति प्रकाश की ओर ले जाती है, जबकि तामसी वृत्ति अंधकार की ओर प्रवृत्त करती है। इस प्रकार एक ही परिणाम के भोग में दूसरी गुणवृत्ति बाधक बन जाती है। इसीलिए विवेकी पुरुष के लिए सभी कर्मफल-भोग दुःखरूप ही हैं। अतः इन क्लेशों को नष्ट कर देना चाहिए।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है-

विषयेन्द्रिय संयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।। (गीता, १८/३८)

जो सुख विषय और इन्द्रियों के संयोग से होता है वह यद्यपि भोगकाल में अमृत के सदृश भासता है परन्तु परिणाम में विष के सदृश है। इसलिए वह सुख राजस कहा जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि जन्म, आयु और भोगरूपी सभी कर्म विपाक दुःखरूप ही हैं। इसलिए उसका मूलसहित उच्छेद करना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

हेयं दुःखमनागतम्।।१६।।

अब कल की बात बना ले रे।
जो बीती बीत गई। दुनिया की रीति यही।

कर्मों के दुःखरूप फल का जो अंश व्यतीत हो गया, वह तो बीत ही गया। कुछ अंश वर्तमान में भोगने में आ रहा है। किन्तु जो दुःख अभी आया नहीं है, अनागत है, आनेवाला है, वह दुःख हेय है–नष्ट करने योग्य है। प्रश्न उठता है कि नष्ट कैसे करें? उसकी विधि क्या है?

द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः।।१७।।

द्रष्टा और दृश्य का संयोग हेय का कारण (उपाय) है।

पहले दृश्य का स्वरूप बताते हैं–

प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं
भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।।१८।।

प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है; भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं; पुरुष के लिए भोग और मोक्ष का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है–ऐसा वह दृश्य है।

प्रकाश एक परमात्मा में है, प्रकृति में अन्धकार है। ईश्वरीय प्रकाश आत्मस्वरूप की ओर ले जाना, प्रकाश का बोध कराना, उसके लिये क्रियाशील करना, योग-साधना में लगाना, प्रवृत्त करना और स्थिति दिलाना दृश्य का यही प्रयोजन है। भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप है। जो कुछ भी सृष्टि में दिखायी देता है भूत है। भूत और इन्द्रियों द्वारा उसको ग्रहण किया जाता है। पुरुष के लिए भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है। ये भोग सांसारिक नहीं हैं। **'इष्टान्भोगान् हि वो देवाः' (गीता, ३/१२)**– इष्ट-सम्बन्धी भोग देना दृश्य की विशेषता है। जो भोग आपको अभीष्ट है, उसके सम्पादन में क्या-क्या चाहिए?–वह सुविधा प्रदान करना दृश्य का कार्य है। भगवान का भोजन यही है। **'भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोक महेश्वरम्।' (गीता, ५/२९)**–यज्ञ, तप, स्वाध्याय इत्यादि जो भी इष्टोन्मुखी साधन हैं उन्हें मैं खाता हूँ। यही भगवान का भोजन है।

अस्तु, पुरुष के लिए साधनोपयोगी भोगों की व्यवस्था करना तथा अन्त में मुक्ति का भली प्रकार सम्पादन करना, मुक्तिपर्यन्त दूरी तय करा देना जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है। यदि प्रकृति ही दृश्य होती तो मोक्ष देती! प्रकृति तो संसार में फँसानेवाली है, उसी से तो हमें मुक्ति पाना है।

यहाँ 'दृश्य' प्रकाशस्वरूप ज्योतिर्मय परमात्मा की प्रेरणा है। प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिसका स्वभाव है, वह दृश्य है। भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं, वह दृश्य है। अनुभव में इन भूतों में से, जीव-जगत् से कुछ भी दृश्य आ सकता है जिसे इन्द्रियाँ ग्रहण करती हैं। यज्ञ, तप इत्यादि साधन जुटाना और मुक्तिपर्यन्त दूरी तय कराना जिसका प्रयोजन है, वह दृश्य है। यह दृश्य जिस विधि से प्रसारित करते हैं, उस प्रसारण-सूत्र का नाम शब्द है।

दृश्य मुक्ति का सम्पादन कैसे करता है?-इस पर कहते हैं-

विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि।।१९।।

विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग '**गुणपर्वाणि**'-गुण-भेद से इन चार विधियों से दृश्य चलता है।

विशेष परमात्मा है- '**पुरुषविशेष ईश्वरः।**' विशेष का बोध कराना, अविशेष अर्थात् प्रकृति का आवरण घना हो रहा है। सचेत हो जाओ, अभ्यास बढ़ाओ। विशेष- ईश्वरीय आलोक का बोध कराना कि बढ़ते रहो, साधना ठीक है। लिङ्गमात्र- स्वरूप प्रकट कर समझाना; अलिङ्ग- अदृश्य रूप से समझाना, जैसे- अंग-स्पंदन, आकाशवाणी या अदृश्य संकेत से भगवान समझाते रहते हैं, कोई दृश्य नहीं रहता और अनुभव मिलता रहता है। गुणों के दबाव के अनुसार ये दृश्य चलते हैं।

रामचरितमानस में है-

जगु पेखन तुम देखनिहारे। बिधि हरि संभु नचावनिहारे।।
तेउ न जानहिं मरमु तुम्हारा। औरु तुम्हहि को जाननिहारा।।

(मानस, २/१२६/१)

जगत् दृश्य है, आप देखनेवाले हैं। विधि- परमात्मा की प्रशक्ति जिससे साधना जागृत होती है, हरि- जो भरण-पोषण करता है, शंभु- जो शुभ-

अशुभ संकल्पों का संहार कर स्थिति प्रदान करते हैं – इनको नचानेवाले, इन्हें संचालित करनेवाले स्वयं भगवान हैं। वे संचालित तो होते हैं; किन्तु ईश्वरीय रहस्य वे भी नहीं जानते, अन्य कोई क्या जानेगा! अर्थात् भगवान रथी होते हैं, संचालन करते हैं। अब द्रष्टा का स्वरूप बताते हैं–

द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः।।२०।।

चेतनमात्र ज्ञानस्वरूप द्रष्टा आत्मा यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, निर्विकार है, फिर भी बुद्धिवृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है। बुद्धि में जैसी वृत्ति है वैसा ही उसका स्वरूप है। द्रष्टा देखकर करता क्या है?–

तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा।।२१।।

उस दृश्य का स्वरूप द्रष्टा के लिए ही है। जो दृश्य पुरुष के लिए भोग एवं अपवर्ग की व्यवस्था करता है, उस दृश्य का उपयोग उस द्रष्टा के लिए ही है।

कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।।२२।।

जिसका भोग और अपवर्गरूपी कार्य पूर्ण हो गया, उस पुरुष के लिये नाश को प्राप्त हुआ वह दृश्य नष्ट नहीं होता। उसके लिए अब दृश्य की आवश्यकता न रह जाने पर भी अन्य साधारण लोगों के लिए उसका उपयोग है। यही महापुरुष सद्गुरु होते हैं। उनके पास दूसरों में द्रष्टा-दृश्य संयोग प्रसारित करने की जागृति रहती है। दूसरों के लिए दृश्य का उपयोग है, महापुरुष के लिए कोई प्रयोजन नहीं रहता।

एक बार पूज्य गुरुदेव भगवान को दृश्य मिला कि एक भ्रष्ट योगी आ रहे हैं, उनका मार्गदर्शन करें। दिन भर की प्रतीक्षा के पश्चात् अन्ततः वे आये। यही हम लोगों के सतीर्थ, अग्रज और महाराज जी के प्रथम शिष्य हुए। उस दृश्य का उन महापुरुष के लिये कोई उपयोग नहीं है; किन्तु जागृति की यह प्रशक्ति उनमें अन्य लोगों के कल्याण के लिए विद्यमान रहती है।

पूज्य महाराज जी कहा करते थे, "हो! भजन की जागृति एक ऐसी विद्या है कि लिखने, पढ़ने, सुनने से नहीं आती। वाणी से वह कहने में नहीं आती। वह तो किसी अनुभवी सद्गुरु के द्वारा किसी-किसी अधिकारी के

हृदय में जागृत हो जाया करती है।" अतः साधारण लोगों के कल्याण के लिए उस दृश्य का उपयोग है। अब दृश्य और द्रष्टा के संयोग का स्वरूप बतलाते हैं–

स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः।।२३।।

स्वशक्ति, जो मुक्ति का सम्पादन करती है अर्थात् दृश्य और स्वामिशक्ति अर्थात् पुरुष– इन दोनों का मिलन और कार्य करने लग जाना, जो स्वरूपप्राप्ति का कारण है, वह संयोग है। दृश्य और द्रष्टा, स्वशक्ति और स्वामिशक्ति कार्य करने लगें, यही है संयोग। इसी से भजन जागृत होता है।

संयोग की आवश्यकता क्यों पड़ी?–

तस्य हेतुरविद्या।।२४।।

इस संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या के मिटने के साथ ही संयोग भी मिट जाता है। मिटी तो अविद्या, संयोग क्यों मिट गया? इसका कारण भी अविद्या ही है। न यह होती, न द्रष्टा को दृश्य समझाना पड़ता। दृश्य ने अपवर्ग की व्यवस्था कर दी तो कृतार्थ महापुरुष के लिए न तो दृश्य की आवश्यकता है, न संयोग की उपयोगिता।

तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्।।२५।।

उस अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है। यही 'हान' पुनर्जन्मादि के कारण भूत, वर्तमान और भविष्य में आनेवाले दुःखों का अत्यन्त अभाव है। वही चेतनात्मा का कैवल्य पद है, अमृतमय अविनाशी पद है।

यह कैवल्य पद कैसा है? दुःखों का अत्यन्त अभाव 'हान' कब हो जाता है?–

विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः।।२६।।

निश्चल और निर्दोष विवेकज्ञानयुक्त 'हान'– दुःखों के अत्यन्त अन्त का उपाय है। विवेकख्याति उस अवस्था का नाम है जब विवेक अपना परिणाम देने की अवस्था पार कर परिणाम दे चुका हो। विवेकख्याति हान का उपाय है। उस अविद्या के अभाव से संयोग का अभाव हो जाता है। फिर अब भगवान किसे समझायें, किसे पढ़ायें? अतः वह संयोग उस महापुरुष के लिए

नष्ट हो जाता है। वही हान है; क्योंकि अब न उसके लिए बन्धन है न मुक्ति का सम्पादन शेष है। पुनर्जन्मादि दुखों का अभाव हान है। वही इस चेतनात्मा का कैवल्य है। निश्चल, निर्दोष विवेकख्याति अपनी पराकाष्ठा पर है। यही **'हानोपाय'**- दुःख-मुक्ति का उपाय है। उस समय-

तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा।।२७।।

उस विवेकख्याति ज्ञान की सात अवस्थाएँ होती हैं। सातों भगवत्पथ की सात भूमिकाएँ हैं। महर्षि ने तो इनका नामोल्लेख नहीं किया; किन्तु अन्यान्य ग्रन्थों में इन्हें शुभेच्छा, सुविचारणा, तनुमानसी, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावना और तुर्यगा कहा गया है।

यह विवेकख्याति कब प्राप्त होती है?-इस पर कहते हैं-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः।।२८।।

योग के विभिन्न अंगों के अनुष्ठान से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है।

ज्ञान आरम्भ में है, मध्य स्तर का है और उन्नत भी है; ख्याति अर्थात् ज्ञान भी अपने पूर्ण प्रकाश का अंतिम लक्ष्य दे चुका है- वह है विवेकख्याति। इसके पश्चात् रह जाता है कैवल्य पद। किन्तु इन सभी लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए योग के अंगों का अनुष्ठान ही एक माध्यम है।

अब योग क्या है? इसके कितने अंग हैं?-

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान-
समाधयोऽष्टावङ्गानि।।२९।।

योग के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि।

इनमें योग के प्रथम अंग 'यम' का वर्णन करते हैं-

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः।।३०।।

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह- ये पाँच यम हैं। आत्मरमण 'अहिंसा' है। 'सत्य' एकमात्र आत्मा की प्राप्ति का प्रयत्न सत्याचरण

है। इष्ट के समक्ष निष्कपट भाव 'अस्तेय' है। मनसहित इन्द्रियों का ब्रह्माचरण में प्रवाहित होना 'ब्रह्मचर्य' है। विजातीय संस्कारों के संग्रह से बचना 'अपरिग्रह' है।

इन यमों की विशेषता बताते हैं–

जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।।३१।।

उपर्युक्त यम जाति, देश, काल और समय अर्थात् निमित्त की सीमा से बाधित न होने पर सार्वभौम महाव्रत हो जाते हैं।

चित्त की वृत्तियों का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन जाति अर्थात् जन्म है। मनुष्य वैसा ही है जैसा उसके चित्तवृत्ति का प्रवाह है, जिसमें निम्न अवस्था से उन्नत अवस्थाओं का क्रम आता रहता है। काकभुशुण्डि को अजगर का तन मिला, कौवे का शरीर मिला; जड़भरत को मृग का शरीर मिला; भगवान बुद्ध पिछले सैकड़ों जन्मों में विभिन्न योनियों में थे– उन सबमें यमों का पालन होता रहा। इसी तरह देश में अर्थात् नाम, रूप या योग के किसी अंग में जहाँ चाहे मन को लगा लें। काल अर्थात् इतने ही समय में मन लगता है। ब्राह्मवेला में मन ठीक लगता है, दूसरे समय में नहीं लगता। छोटे-मोटे निमित्तों (जैसे– किसी अवसर विशेष पर हिंसा नहीं करेंगे या इन तिथियों में ब्रह्मचर्य का पालन करेंगे...इस प्रकार की शर्तें) से यम बाधित नहीं होते। हर समय जब चाहें जहाँ चाहें निरन्तर इन यमों के पालन में मन लगे, उस समय ये यम सार्वभौम हो जाते हैं। सभी योनियों (भूमियों) में, सभी समय में, सब अवस्थाओं में, सभी देशों में, सभी निमित्तों में अबाध रूप से जब इनका आचरण होने लगता है तब यह महाव्रत कहलाते हैं।

यमों का वर्णन कर अब नियमों का वर्णन करते हैं–

शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।।३२।।

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति– इन पाँचों का नाम 'नियम' है।

यम और नियमों के पालन में विरोधी संकल्प आते रहते हैं। विरोधी संकल्पों का परिहार कैसे करें?–

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।।३३।।

विरोधी भाव उठने पर उनके प्रतिरोधी (प्रतिपक्षी) विचारों का बार-बार चिन्तन करना चाहिए। प्रतिपक्षी विचारों का चिन्तन कैसे करें?–

वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।।३४।।

यम-नियमों के पालन के समय उनके विरोधी भाव आते हैं। जैसे- सत्य के स्थान पर असत्य, अस्तेय के स्थान पर चोरी, ब्रह्मचर्य की जगह वासना, अपरिग्रह में संग्रह, शौच की जगह अशुद्धि- ये विरोधी भाव आते हैं। इन्हें 'वितर्क'-विरोधी तर्क कहा जाता है। ये तीन प्रकार के होते हैं- कृत, कारित और अनुमोदित अर्थात् स्वयं किये हुए, दूसरों से करवाये हुए तथा अनुमोदन किए हुए। विरोधी विचार क्यों आते हैं? इसका कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं। इनसे प्रेरित होकर मनुष्य तपस्या में लापरवाही करने लगता है। इनसे प्रेरित वितर्क की मात्रा किसी में अल्प, किसी में मध्यम तथा किसी-किसी को अत्यधिक प्रभावित करती है। इन वितर्कों के प्रतिपक्षी विचारों की भावना करनी चाहिए कि "वितर्क के भाव दुःख और अज्ञानरूपी अनन्त फल देनेवाले हैं। ये पुनः नरक की ओर, पतन की ओर ले जायेंगे। यही सब तो अभी तक किया गया, फिर वही? हे मन! तूँ तो इनसे मुक्त होने के लिये आया है। किस महापुरुष की शरण में हो? क्या अपने साथ गुरु महाराज की विमल कीर्ति पर प्रश्नचिन्ह लगाओगे?"-मन को इस तरह से समझाना प्रतिपक्ष भावना है।

अब यम-नियमों की पराकाष्ठा बताते हैं-

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।।३५।।

अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के सन्निकट सब प्राणी वैर त्याग देते हैं, क्योंकि उनके चतुर्दिक वायुमण्डल शान्त रहता है। ऐसे महापुरुषों के निवास-स्थल आश्रमों की व्यवस्था भी विलक्षण होती है। मानस में है कि ज़ब से भगवान श्रीराम चित्रकूट में निवास करने लगे- '**करि केहरि कपि कोल कुरंगा। बिगत बैर बिचरहिं सब संगा।।**' (२/२३७/१) पूज्य

गुरु महाराज अनुसुइया के बीहड़ वन-प्रान्तर में निवास करते थे जहाँ शेर, भालू, लम्बे-लम्बे सर्पों का बाहुल्य था; किन्तु इन वन्यहिंसक जीवों द्वारा आश्रम परिसर में कभी कोई दुर्घटना नहीं घटित हुई।

भगवान महावीर स्वामी का निर्णय है कि आत्मा को अधोगति में ले जानेवाले जितने भी विकार हैं, वही हिंसा के कारण हैं। इन विकारों का निरोध कर लेना ही विशुद्ध अहिंसा है। वास्तव में हिंसा का अर्थ किसी जीव को मारना मात्र नहीं है बल्कि आत्मपथ से विचलित हो जाना ही हिंसा है और आत्मपथ की ओर अग्रसर होना अहिंसा है। अपने आत्मस्वरूप में प्रवेश जीव का परम कल्याण है। अतः आत्मस्वरूप की सुरक्षा ही अहिंसा है।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में स्थान-स्थान पर अहिंसा का प्रयोग किया है। योगविधि यज्ञ के चौदह लक्षणों में संशित व्रत अहिंसा है, जिसका परिणाम सनातन ब्रह्म का दर्शन और स्थिति है। स्वरूप में स्थित महापुरुष क्षेत्रज्ञ हैं और क्षेत्रज्ञ के लक्षणों में एक है अहिंसा। दैवी सम्पद् जो परमदेव परमात्मा में प्रवेश दिलाती है, मोक्ष प्रदान करती है। उनमें इन्द्रियों का दमन, मन का शमन, अनुभवी उपलब्धि, वास्तविक जानकारी इत्यादि छब्बीस लक्षणों में एक अहिंसा है। "अर्जुन! आत्मा ही शत्रु और आत्मा ही मित्र है। जिस पुरुष के द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीती गई हैं उसके लिये उसी की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है, परमकल्याण करनेवाली होती है। जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गईं उनके लिये उन्हीं की आत्मा शत्रु है, शत्रुता में बरतती है, अधम और निम्न योनियों का कारण बनती है। इसलिए पुरुष को चाहिए कि अपने द्वारा अपनी आत्मा का उद्धार करे, अधोगति में न पहुँचाये।"

अहिंसाप्राप्त महापुरुष के सन्निकट इस वैर के कारणों का त्याग हो जाता है, संयम सधता जाता है, आत्मा की स्थिति मिलती जाती है, आत्मोद्धार होता जाता है। यह शिक्षा महापुरुष देते हैं। अतः अहिंसा किसी विरले महापुरुष के क्षेत्र की वस्तु है। ऐसे महापुरुष के चतुर्दिक एक प्रभाव-क्षेत्र निर्मित हो जाता है। (जैसा काकभुशुण्डि आश्रम का प्रभाव था कि '**व्यापहिं तहँ न अविद्या, जोजन एक प्रजंत।**') वहाँ का वायुमण्डल शुद्ध और शान्त हो

जाता है। उनकी परिधि में जो भी पहुँच जाता है, उसमें भी योग के संस्कारों का सूत्रपात हो जाता है।

'वैरत्यागः' दुनिया में वैरी काटे जाते हैं, 'अहिंसा' में त्यागे जाते हैं। वैरी कौन हैं? मनुष्य न चाहता हुआ भी किसकी प्रेरणा से पाप का आचरण करता है? भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।। (गीता, ३/३७)

अर्जुन! काम और क्रोध अग्नि के सदृश कभी न तृप्त होनेवाले दुर्जय शत्रु हैं। ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करनेवाले ये निरन्तर वैरी हैं। महापुरुषों की सन्निधि में इन वैरियों का अन्त हो जाता है।

'परम धर्म श्रुति बिदित अहिंसा।' (मानस, ७/१२०/२२) सुरत अर्थात् मन की दृष्टि जो वायु से भी तेज चलनेवाली है, स्थायित्व ले ले। इस निरोध के साथ जो छिपी सत्ता है, वह है कल्याणतत्त्व द्रष्टा आत्मा। उसके स्पर्श के साथ ही जिसे धारण करना था – धर्म को, वह कार्य पूर्ण हुआ। यह अहिंसा की पराकाष्ठा है। ऐसे महापुरुषों की दृष्टि पड़ते ही व्यक्ति हिंसा के मार्ग से हटकर अहिंसा की राह पर आ जाते हैं, जैसे– वाल्मीकि, अंगुलिमाल इत्यादि। पूज्य गुरुदेव भगवान के सान्निध्य में अनुसुइया क्षेत्र के दस्युओं की वृत्ति बदल गयी, वे भजन करने लग गये।

दूसरा यम है सत्य। उसकी पराकाष्ठा कहाँ तक है?

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्।।३६।।

सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर क्रियाफल का आश्रय प्राप्त हो जाता है।

सत्य केवल द्रष्टा आत्मा है। सृष्टि में अन्य जो कुछ है, नश्वर है। इस सत्य एकमात्र परमात्मा में भली प्रकार स्थिति आ गयी, श्रद्धा केन्द्रित हो गयी, समर्पण सधा, साधना गतिशील हुई तो **'क्रियाफलाश्रयत्वम्'**– क्रिया का फल है परमात्मा, उस परब्रह्म परमात्मा का आश्रय मिल जाता है। अर्थात् भगवान विधिवत् योगक्षेम करने लगते हैं।

यम का तीसरा अंग 'अस्तेय' देखें–

अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्।।३७।।

प्रायः चोरी के अभाव को अस्तेय कहा जाता है। चौर्यवृत्ति का अभाव होते ही योगी के समक्ष सभी रत्नों को प्रकट हो जाना चाहिए। आपके शास्त्रों में समुद्र-मन्थन से निःसृत चौदह रत्नों का उल्लेख है–

श्री मणि रम्भा वारुणी, अमिय शंख गजराज।।
कल्पद्रुम शशि धेनु धनु, धनवन्तरि विष बाजि।।

मान लें अचौर्यवृत्ति दृढ़ हो गयी, योगी के समक्ष रम्भा या वारुणी प्रकट हो गयी तो वह करेगा क्या? उसके शान्त एकान्त भजन में ये भयंकर विघ्न हैं। रम्भा विश्वामित्र के समक्ष पहुँची तो उनका पतन हो गया। अतः अस्तेय या रत्नों का यह आशय संगत प्रतीत नहीं होता।

भगवान महावीर से एक राजा ने प्रश्न किया, "भगवन्! सद्‌गृहस्थ आश्रम में रहते हुए हम लोगों का कल्याण कैसे हो?" उन्होंने बताया, "राजन्! त्रिरत्न धारण करें।" '**सम्यक्‌दर्शनज्ञानचरित्राणि।**' तीर्थंकर अर्थात् तीर्थस्वरूप महापुरुष सद्‌गुरु का दर्शन करें, उनमें श्रद्धा स्थिर करें, उनसे साधन-विधि ज्ञात करें और उसे आचरण में ढालें। यही त्रिरत्न हैं।

पूज्य गुरुदेव कहते थे, "सद्‌गुरु के समक्ष जो हृदय में हो, वही जुबान पर हो। हृदय में कुछ और जुबान पर कुछ और- ऐसा साधक कभी सफल नहीं होता।" भगवान से कुछ छिपाया भी तो नहीं जा सकता। '**सब के उर अंतर बसहु, जानहु भाउ कुभाउ।**' (**रामचरितमानस, २/२५७**)-ईश्वर सबके हृदय में निवास करता है, वह भाव-कुभाव सब जानता है। संकल्प बाद में उठते हैं, भगवान पहले ही बता देते हैं कि कब विजातीय संकल्प आनेवाले हैं। वितर्क पैदा हुआ नहीं, परिस्थिति या खतरा आया नहीं, उसके पहले ही भगवान बता देते हैं; साधक तुरन्त सावधान हो जाता है। अस्तु, भगवान से कुछ छिपा नहीं है फिर भी जीव का स्वभाव है, कुछ-न-कुछ कपट रहता ही है। जब यह दुराव समाप्त हो जाता है, '**नवम सरल सब सन छलहीना।**' (**रामचरितमानस, ३/३५/५**) हो जाता है तो साधना में

सहायक सभी रत्न विवेक, वैराग्य, शम, दम इत्यादि आवश्यकतानुसार योगी के समक्ष प्रकट होते रहते हैं।

अब ब्रह्मचर्य का परिणाम बताते हैं–

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः।।३८।।

ब्रह्मचर्य में दृढ़ स्थिति हो जाने पर सामर्थ्य का लाभ होता है।

मात्र जननेन्द्रिय-संयम ही ब्रह्मचर्य नहीं है। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार हठपूर्वक इन्द्रियों को रोकने किन्तु मन से विषयों का चिन्तन करनेवाला दम्भाचारी है। अपने पूर्वजन्मों का संस्मरण सुनाते हुए पूज्य गुरुदेव बताया करते थे कि गत जन्म में उनकी निवृत्ति हो चली थी; किन्तु मन में दो-एक इच्छायें शेष थीं कि शादी-व्याह क्या होता है और लोग गाँजा पीकर मस्ती में भजन करते हैं, इसमें कितना आनन्द है? उस जन्म में इच्छा रहने पर भी न तो विवाह किया और न गाँजे का स्पर्श ही किया; किन्तु मन में एक कुतूहल था इसीलिए जन्म लेना पड़ा। भगवान ने थोड़े ही समय में शादी-विवाह कराकर, दिखा-सुनाकर, दो-एक झिड़कियाँ देकर साधु बना दिया। आकाशवाणी मिली कि इस मन्दिर में तुम्हारे गुरु महाराज हैं। उन तपोधन के सान्निध्य में स्वल्प समय में ही साधना जागृत हो गयी, भगवान रथी हो गये, योगक्षेम करने लगे। भजन के लिए जगाने, उठाने, बैठाने लगे। भोजन पर भगवान ने नियंत्रण लगा दिया- यह खाओ, यह न खाओ। जागरण-शयन सन्तुलित कर दिया। सब कुछ अपने हाथ में ले लिया। जैसे कोई अपना गड़ा धन पा जाय, योग की विभूतियाँ मिलने लगीं, रत्न प्रकट होते गये। उस जन्म में पूज्यश्री ब्रह्मचारी ही तो थे, संयम के पक्के थे, फिर भी जन्म लेना पड़ा।

कुतर्क शान्त होता है ब्रह्माचरण से, मनसहित इन्द्रियों को समेटकर ब्रह्मचिंतन में लगने से। '**ब्रह्माचरति स ब्रह्मचारी।**' आँखें दूसरा न देखें, कान दूसरा न सुनें। कानों से विषयोत्तेजक बातें सुनकर, आँखों से उत्तेजक दृश्य देखकर शरीर को बचाये रखना सर्प के मुख में ऊँगली डालकर बचने के समान है। ब्रह्माचरण से, सतत चिन्तन से सकलेन्द्रिय-संयम सध जाता है। उसी से विशुद्ध ब्रह्मचर्य की अवस्था आती है।

ब्रह्मचर्य में स्थिति दृढ़ होने पर '**वीर्यलाभः**'-सामर्थ्य का लाभ होता है। आत्मा का विलुप्त पराक्रम प्रकट होने लगता है। जिस मन को हठ से भजन में लगाना पड़ता था, सहज ही भजन में लगने की सामर्थ्य आ जाती है। विघ्नों के आने पर भी वह पीछे नहीं हटता। मीरा पीछे नहीं हटी। जहर का प्याला, शूली की शैया भी उसे विचलित न कर सके। प्रह्लाद को जलाने का प्रयास किया गया, समुद्र में डाला गया, हाथियों से कुचलवाया गया- विघ्न आये और निकलते चले गये। साधक में अपने ध्येय पर अडिग रहने की सामर्थ्य आ जाती है। अब उसे प्रयासपूर्वक मन को नहीं लगाना है।

नोट- सकलेन्द्रिय-संयम में भी जननेन्द्रिय-संयम ब्रह्मचर्य की अनिवार्य शर्त है। पूज्य गुरुदेव भगवान कहते थे कि गृहस्थों द्वारा इस संयम में भूल-चूक होने पर भगवान क्षमा कर देते हैं; किन्तु साधुवेश में ऐसी भूल हो जाने पर भगवान कभी क्षमा ही नहीं करते। ऐसे पतित साधक के लिए शरीर-त्याग ही एकमात्र प्रायश्चित है।

अब देखें 'अपरिग्रह'-

अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।।३९।।

अपरिग्रह की दृढ़ स्थिति हो जाने पर '**जन्मकथन्तासम्बोधः**'- पूर्व-जन्म कैसे हुए थे?-इसका भली प्रकार ज्ञान हो जाता है।

कुछ लोगों की मान्यता है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं के संग्रह का अभाव या कुछ भी न रखें- अपरिग्रह है। जंगल निवासी आदिवासी जनता प्रातः जीविकोपार्जन हेतु निकलते हैं। दिनभर में जो कुछ अर्जित किया, उससे येन केन प्रकारेण उदरपूर्ति ही कर पाते हैं। उनके घर खुले हैं! जमीन पर शयन! संग्रह के नाम पर एल्यूमिनियम के दो-एक पिचके हुए बर्तन! सब-के-सब अपरिग्रही! पूर्वजन्म तो दूर की बात है, कल क्या बीतेगी?-इसका भी उन्हें ज्ञान नहीं है। सम्राट होते हुए भी राजर्षि जनक अपरिग्रही थे।

अपरिग्रह वस्तु-संग्रह से उतना सम्बन्धित नहीं है जितना चिन्तन से! चिन्तन इतना उन्नत हो जाय कि उसके द्वारा नवीन संस्कारों का संग्रह न हो। नवीन संस्कारों का संग्रह तो होता नहीं फिर भी चित्त में पुराने संस्कारों के

कारण विकलता बनी रहती है, जिससे भले-बुरे संकल्प उठने लगते हैं। उस अवस्था में साधक को यह ज्ञात हो जाता है कि पूर्वजन्मों के कितने संस्कार शेष थे? उनका निदान और कब तक उनसे निवृत्ति होगी?-इसका ज्ञान भी हो जाता है।

इस प्रकार यम में स्थिति का परिणाम बताकर महर्षि नियमों के आचरण का फल बताते हैं। नियम पाँच हैं- शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान। इनमें से प्रथम है 'शौच'-

शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः।।४०।।

शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य और दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा बलवती होती है।

शौच का अर्थ शरीर की सज्जा, केश विन्यास या प्रसाधन नहीं है। इससे शरीर के अंगों के प्रति वैराग्य की भावना का उदय नहीं होता, प्रत्युत् यह ममत्व का ही परिचायक है। कुछ लोगों ने दिन में कई बार स्नान इत्यादि को शौच की संज्ञा दी है। किन्तु सन्तों ने कायिक स्वच्छता को बहुत महत्व प्रदान नहीं किया- '**पानी ले ले साबुन ले ले, मल मल काया धोई। अन्तर घट का दाग न छूटे, निर्मल कैसे होई।।**' भजन मन से होता है। यह मुख्यतः मानसिक क्रिया है। शरीर को सजाने-सँवारने से उसका प्रयोजन नहीं है। हमारे गुरु महाराज छः-छः महीने, एक-एक वर्ष तक स्नान नहीं करते थे। सदा श्वास में सुरत लगाकर बेगम (निश्चिन्त) रहते थे। कोई पूछता तो वह कहते- जब कोई कष्ट नहीं है, नहाने-धोने में अकारण समय क्यों नष्ट करें! फिर भी देखने से अनुमान भी नहीं होता था कि इन्होंने स्नान नहीं किया।

शौच का अर्थ है- मन की शुद्धि, जिसके पालन में अंतःकरण की पवित्रता मन, दृष्टि, श्रवण, वाणी इत्यादि सर्वत्र पवित्रता आ जाय। शरीर का भान ही न रहे, सुरत चिन्तन में लगी रहे, इससे स्वाङ्गों में विरक्ति आ जाती है और '**परैः असंसर्गः**'- दूसरों के संसर्ग से दूर रहने की क्षमता आ जाती है।

पूज्य महाराज जी जब चिन्तन में बैठते थे, कोई आकर उनके पास बैठता, पूज्यचरण बतलाते थे, "मन करता था कि यह कितना शीघ्र उठकर

चला जाता।" क्रमशः लोग दूर होने लगे। दूसरों से असंग रहने की प्रवृत्ति जागृत हो जाती है। अपने अंगों में वैराग्य हो जाता है। स्नान किया है या नहीं- भान ही नहीं रहता। शौच से कुछ अन्य क्षमताओं का विकास भी होता है-

सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च।।४१।।

और इसके अतिरिक्त अन्तःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, मनसहित इन्द्रियों का वश में होना और आत्म-साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है। अन्तःकरण शान्त और चिन्तन में प्रवाहित होने की क्षमतावाला हो जाता है। चिन्तन में अनुरक्ति देखकर मन में प्रसन्नता बढ़ती है। चित्त की एकाग्रता, अन्तःकरण में निर्मलता आ जाती है; क्योंकि अंतःकरण की धुलाई ही शौच है।

अब दूसरा नियम 'संतोष' देखें-

संतोषादनुत्तमसुखलाभः।।४२।।

सन्तोष से सर्वोत्तम सुख का लाभ होता है, जिससे उत्तम कोई सुख नहीं है। ऐसा सुख मात्र परमात्मा में है। सन्तोष की पराकाष्ठा में उन प्रभु से तोष मिलने लगता है। **'जो आनन्द सिंधु सुखरासी। सीकर तें त्रैलोक सुपासी।।'** **(मानस, १/१९६/५)**- भगवान आनन्द के सिंधु हैं, सुख की राशि हैं। इस आनन्दसिंधु की एक बूँद से त्रैलोक्य तृप्त हो जाता है। परिस्थितियों से समझौता संतोष नहीं है। सन्तोष से कामनाओं का नाश हो जाता है; क्योंकि जब सम- उस परमात्मा का तोष मिल गया तो कामना भी किसकी करे! आगे ऐसी कोई सत्ता नहीं जिसकी स्पृहा हो सके।

अब 'तप' का सर्वोपरि परिणाम बताते हैं-

कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।।४३।।

तप के अनुष्ठान से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब **'कायेन्द्रिय सिद्धिः'**-शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। उस समय इन्द्रियों को जहाँ चाहें आप लगा सकते हैं। सर्दी-गर्मी जिस वातावरण में रखना चाहें, राग-द्वेष से रहित रख सकते हैं। सामान्य जीव **'जहँ तहँ इन्द्रिन तान्यो'** **(विनयपत्रिका, ८८/१)** इन्द्रियों के बहाव में खिंच जाता है।

गीता में भगवान कहते हैं कि विषयों में विचरती हुई जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है वह एक ही इन्द्रिय अयुक्त पुरुष के मन का अपहरण उसी प्रकार कर ले जाती है, जैसे झंझावात नाव का अपहरण कर उसे डुबो देता है। इसलिए पहले इन्द्रियों का संयम कर मन को साधना में लगा। मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना तप कहलाता है।

अब देखें 'स्वाध्याय' का स्वरूप–

स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः।।४४।।

स्वाध्याय का अर्थ है स्वयं का अध्ययन। मुझे साधन में कितना समय देना चाहिए, कितना दे पाता हूँ?–इसका निरीक्षण करते हुए सदैव सचेतावस्था में रहते हुए, समझते हुए साधनरत रहने से '**इष्टदेवतासम्प्रयोगः**'– योग की अवस्था इष्टदेव से ओत-प्रोत हो जाती है।

ईश्वर-प्रणिधान की पराकाष्ठा देखें–

समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्।।४५।।

ईश्वर की शरणागति तथा मन, क्रम, वचन से उनके प्रति समर्पण एवं उनके हाथ का यन्त्र बन जाने से समाधि की सिद्धि हो जाती है।

ईश्वर पर निर्भर करनेवाले साधक का योगक्षेम भगवान स्वयं देखते हैं। अतः साधन का अनायास और शीघ्र पूर्ण होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में 'समाधि' अर्थात् सम और आदि तत्त्व ईश्वर के साथ समत्व प्राप्त होने में शीघ्र सफलता मिल जाती है।

अब 'आसन' का स्वरूप देखें–

स्थिरसुखमासनम्।।४६।।

निश्चल सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। आसन लगाकर बैठना तो सरल है, लेकिन सुख कहाँ? सुख का उतार-चढ़ाव मन पर है, तन पर नहीं। यह आसन कैसे सिद्ध होता है? यह बताते हैं–

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।।४७।।

उक्त आसन प्रयत्न की शिथिलता से और अनन्त अर्थात् परमात्मा में मन लगाने से सिद्ध होता है।

यदि शरीर के ही बैठने का नाम आसन होता तो अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने की क्या आवश्यकता थी? अनेक विभूतियाँ ऐसी रही हैं; जैसे– महर्षि अष्टावक्र, गुरु महाराज के गुरुदेव पूज्य सत्संगी महाराजजी, जिनके पाँव टेढ़े-मेढ़े थे, आसन की मुद्रा का प्रश्न ही नहीं उठता, कभी बनी ही नहीं; किन्तु वे अपने युग के सर्वोपरि महापुरुष थे।

'**प्रयत्नशैथिल्य**' अर्थात् यम, नियम, तप, स्वाध्यायादि में जो प्रयत्न चलता है, उस प्रयत्न में शिथिलता आ जाय, इनका पालन सहज स्वाभाविक होने लगे, एक बार जहाँ मन लगाया शान्त प्रवाहित होने लगे– इस प्रकार एक परमात्मा में भली प्रकार मन लग जाने से आसन सिद्ध हो जाता है। अतः यह आसन मन का है। मन का स्थिरीकरण ही आसन है। भजन के लिए शरीर की एक निर्धारित मुद्रा है, जिसमें शरीर, शिर, मेरुदण्ड और गर्दन एक सीध में होने चाहिए। आँखें अर्धोन्मीलित, नासाग्र दृष्टि आवश्यक है। किन्तु महर्षि पतंजलि ने मन के शान्त-स्थिर टिकने को ही आसन की संज्ञा दी है। '**आसन मारे क्या भया, मुई न मन की आस। ज्यों कोल्हू के बैल को, घर ही कोस पचास।।**' मन में उभरने वाली आशाएँ हैं जो स्थिर बैठने नहीं देतीं।

आसन का प्रभाव क्या होता है?–

ततो द्वन्द्वानभिघातः।।४८।।

आसन सिद्ध होते ही द्वन्द्वों का आघात नहीं होता। राग-द्वेष, भले-बुरे उद्वेग द्वन्द्व हैं जो मन को दुविधा में डाल देते हैं। प्रकृति के विरोधी पहलू से भी उसके हृदय में कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

उस समय उसकी अवस्था कैसी होती है?–

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।।४९।।

उस आसन के सधते ही श्वास और प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है।

प्राणायाम अलग से कोई क्रिया नहीं है। अभ्यास किया गया तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान का, साधन किया जाता है अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह का। इसमें सहजता ढलते ही आसन-सिद्धि और आसन

सधते ही प्राणायाम! प्राण के व्यापार पर विराम लग गया। इस प्रकार यह स्थिति परिणामजन्य है। यह यम-नियमों के परिपालन का प्रतिफलन है।

श्वास जो लेते हैं, प्रश्वास जो त्यागते हैं। (प्राचीन साहित्य में कहीं-कहीं इसके विपरीत उल्लेख भी मिलते हैं, जिसमें प्राण जो त्यागा जाता है और प्रश्वास जो भीतर लेते हैं-ऐसा अर्थ किया गया है। किन्तु अधिकांश मनीषियों ने श्वास या प्राण उसे कहा है जो हम ग्रहण करते हैं।) आत्म-उत्कर्ष के लिए आप लेते हैं विद्या और आत्मा का पतन करनेवाली अविद्या त्यागते हैं। इन दोनों की गति पर विराम लग जाना, जब त्यागना और ग्रहण करने की वृत्तियाँ शान्त हो जायँ, श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाती है, इसी का नाम है प्राणायाम।

आसन के सधते ही चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित होने लगती है। न भीतर से कोई संकल्प स्फुरित होता है, न बाह्य वायुमण्डल के संकल्प भीतर प्रवेश कर पाते हैं। यही कारण है कि ऐसी अवस्था में चित्त शान्त और स्थिर हो जाता है, यही श्वास-प्रश्वास की गति का रुकना है। यदि आंतरिक या बाह्य वायुमण्डल के संकल्प टकराते हैं तो स्पष्ट है कि अभी आसन नहीं सिद्ध है, क्योंकि आसन सधते ही संकल्प शान्त हो जाते हैं। प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाता है।

प्राण अंतःकरण को कहते हैं। भगवान श्रीकृष्ण के अनुसार '**सर्वाणीन्द्रिय-कर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।**' **(गीता, ४/२७)** सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों को, '**इन्द्रियकर्माणि**'- इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, '**प्राणकर्माणि**'- प्राण कर्म करते हैं। बाहर इन्द्रियाँ कर्म करती हैं, भीतर अंतःकरण में प्राण कर्म करते हैं। दोनों के कर्मों को ईश्वरीय निर्देशन से प्रकाशित आत्मा में संयमरूपी योगाग्नि में हवन करना योग है।

सारांशतः अभ्यास यम-नियमों का किया जाता है। इससे आसन की सिद्धि होती है। इसका ही उन्नत स्तर प्राणायाम है।

उक्त प्राणायाम की अवस्था कैसे आयेगी? इस पर कहते हैं-

बाह्याभ्यंतरस्तम्भवृत्तिः देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः।।५०।।

बाह्यवृत्ति, आभ्यंतरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति के भेद से देश, काल और संख्या द्वारा भलीभाँति देखने से प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है।

बाह्यवृत्ति प्रकृति की ओर ले जाती है, जो अविद्या से प्रभावित क्लिष्ट वृत्ति है। आभ्यन्तरवृत्ति योग-साधना में लगाती है, परमात्मा की ओर अग्रसर करती है। तीसरी वृत्ति स्तम्भवृत्ति है, जिसमें न तो बाह्य चिन्तन होता है न आभ्यन्तर चिन्तन, अतः यह स्थिरवृत्ति है। मन बाह्यवृत्ति में गया तो काम-क्रोध, राग-द्वेषादि किस देश में गया? कितने काल तक वह वहाँ रुका?- संख्या द्वारा उसे देखते रहना चाहिए। मन यदि आभ्यन्तरवृत्ति में गया तो विवेक का विश्लेषण कर रहा है या वैराग्य का? श्रद्धा या समर्पण किस देश में चिन्तन कर रहा है? कितने समय तक वहाँ टिका? वहाँ से हटाकर उसे स्तम्भवृत्ति में लगायें। बाह्यवृत्ति से मन को हटाकर आभ्यंतर और स्तम्भवृत्ति में स्थिर करें। आभ्यंतरवृत्ति में भी संकल्प ही तो कर रहा है। इस प्रकार देखते रहने से, सचेत रहने से प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। इस प्राणायाम में श्वास से छेड़खानी नहीं करनी है, वृत्ति को देखना है।

प्राणायाम का अंतिम स्तर देखें-

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः।।५१।।

बाहर और भीतर के विषयों का रुक जाना, त्याग हो जाना चौथा प्राणायाम है। न बाह्य विजातीय संकल्प उठें, न आभ्यंतर के अक्लिष्ट-दैवी सम्पद् के ही संकल्प उठें। सुरत सहज प्रवाहित है। यह प्राणायाम की चतुर्थ सर्वोन्नत अवस्था है। यही शुद्ध प्राणायाम है जिसमें प्राणों के व्यापार पर विराम लग जाता है।

प्राणायाम वृत्तियों का निरोध है, न कि श्वास का! श्वास तो शरीर की जीवनीशक्ति है। जैसे- आँख, कान, नाक क्रियाशील हैं वैसे ही श्वास शरीर को शक्ति प्रदान करता है। इसे रोकना, घटाना या बढ़ाना नहीं है। श्वास के साथ भले-बुरे संकल्प भी मिश्रित रहते हैं। दोनों ही प्रकार के संकल्पों को ग्रहण न करने की क्षमता प्राणायाम है।

प्राणायाम में श्वास को कुछ नहीं करना होता है, केवल चित्त को विषयों से हटाना है। श्वास तो बच्चों में बच्चों-जैसी, वृद्धों में वृद्ध-जैसी, प्रौढ़ों या युवकों में उनके आयु के अनुपात में चलती ही है। इसमें छेड़खानी करने से

बीमारी हो सकती है। चित्त बाह्य आभ्यंतर से स्तम्भवृत्ति में स्थिर करें। विषयों का शान्त हो जाना, चित्त का शान्त प्रवाहित स्थिर होकर चलना प्राणायाम है। इससे लाभ?–

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्।।५२।।

प्राणायाम के सधने से बाह्याभ्यन्तर विषय शान्त हो गये। प्राण का व्यापार शान्त प्रवाहित हो गया, प्राणों के व्यापार में विराम लग गया, प्राण एक आयाम में स्थिर हो गया। इस प्राणायाम से ज्योतिर्मय परमात्मा और साधक के बीच जो आवरण बाह्य या आभ्यंतर वृत्तियों का था वह आवरण क्षीण हो जाता है। रहता अवश्य है, किन्तु वह आवरण निष्प्राण हो जाता है। इस प्राणायाम से एक अन्य लाभ भी है–

धारणासु च योग्यता मनसः।।५३।।

प्राणायाम से मन में धारण करने की योग्यता आ जाती है। आज आप ध्यान में रूप धारण करने का प्रयास करते हैं या मन को नाम में लगाते हैं, किन्तु थोड़ी ही देर में आप पाते हैं कि नाम या रूप मन से भाग जाते हैं। मन में धारण करने की क्षमता का अभाव पाया जाता है; किन्तु प्राणायाम के सधते ही मन में धारण करने की योग्यता आ जाती है जिससे नाम, रूप या योग-साधना के किसी भी अंग में मन का संयम सहज हो जाता है। इससे उन्नत स्तर है 'प्रत्याहार'–

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।।५४।।

जब इन्द्रियाँ अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होकर चित्त के स्वरूप में तदाकार-सी हो जाती हैं, उसी का नाम प्रत्याहार है।

इससे लाभ?–इस पर कहते हैं–

ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्।।५५।।

उस प्रत्याहार से इन्द्रियों पर पूर्ण विजय मिल जाती है। अतः प्रत्याहार का अभ्यास तब तक करना होता है जब तक इन्द्रियाँ भली प्रकार वश में न आ

जायँ। जब इन्द्रियाँ भली प्रकार वश में हो जाती हैं, उनमें भले-बुरे संकल्प नहीं आते। यही जितेन्द्रिय पुरुष के लक्षण हैं।

इस प्रकार दूसरा पाद 'साधनपाद' यहीं सम्पन्न होता है।

निष्कर्ष-

साधनपाद में महर्षि ने बताया कि साधना आरम्भ कहाँ से होती है? एक ईश्वर के प्रति समर्पण, मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना (तप) और स्वाध्याय–स्वयं का अध्ययन कि वृत्ति में योग-विधि को कितना धारण कर पाये और कितनी त्रुटि रही?–इस प्रकार अध्ययन करते हुए अग्रसर होने से योगक्रिया आरम्भ हो जाती है।

इस योगक्रिया के प्रभाव से क्लेश हलके हो जाते हैं, क्षीण हो जाते हैं, 'तनु'-बलहीन हो जाते हैं और समाधि की भावना परिपुष्ट हो जाती है। जो क्लेश क्षीण होते हैं उनके नाम हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। ये पाँच क्लेश हैं। ये पाँचों क्लेश जब कार्य नहीं करते तो प्रसुप्त, कभी 'तनु'-बलहीन, कभी 'विच्छिन्न'–जैसे हैं ही नहीं और कभी उदार अवस्था में रहते हैं। एक क्लेश के उदार होने पर दूसरा विच्छिन्न-सा प्रतीत होता है जबकि वह यथावत् है। इन सभी क्लेशों का आधार अविद्या है। अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख, अनात्मा को आत्मा मानना अर्थात् असत्य में सत्य की प्रतीति होते रहना अविद्या है। प्रकृति और पुरुष, दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का एक-सा हो जाना अस्मिता है। रामचरितमानस में आता है–

जड़ चेतनहि ग्रन्थि परि गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई।।

(मानस, ७/११६/४)

सुख की प्रतीति के पीछे रहनेवाला क्लेश राग है। जहाँ सुख मिला, राग होगा। दुःख की प्रतीति के पीछे रहनेवाला क्लेश द्वेष है। जिस किसी वस्तु या व्यक्ति से दुःख होगा उससे द्वेष अवश्य होगा। जो स्वभाव से चला आ रहा है, जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान पाया जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात् पूर्व-निवास के प्रति ममत्व, जो हमारा निवास-स्थान नहीं

है किन्तु हमने उसे अपना मान रखा है- यह अन्तिम क्लेश है। प्रकृति के अन्तर्गत जीवन यद्यपि हमारा नहीं है, फिर भी अनादिकाल से उसी में रहते आने के कारण उसके प्रति लगाव अभिनिवेश है। जीव का शुद्ध निवास तो परमात्मा है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से बलहीन और सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त ये क्लेश नष्ट करने योग्य हैं।

क्लेश से संयुक्त वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा शान्त होती हैं। इन क्लेशों को नष्ट करना आवश्यक है; क्योंकि इन कर्म-संस्कारों का परिणाम जन्म, पुनर्जन्म, आयु और भोग होता रहता है। ये संस्कार पुण्य और पाप से होने के कारण हर्ष और शोकरूपी फल देते हैं। जो संस्कार हर्ष उत्पन्न करते हैं वे भी दुःखरूप ही हैं, जन्म देंगे। गुण परिवर्तनशील हैं। इस परिवर्तन के क्रम में सात्विक गुण तामसी गुण में ज्योंही परिवर्तित होगा, यह आह्लाद शोक में बदल जायेगा। इसलिए प्रायः सभी फल विवेकशील पुरुष के लिए दुःखरूप हैं। इनका त्याग कर देना चाहिए। जो दुःख अभी आये नहीं हैं, आनेवाले हैं, नष्ट करने योग्य हैं। ये नष्ट कैसे होंगे? द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही 'हेयहेतुः'-हेय का साधन है। वास्तव में ईश्वर-प्रणिधान होने पर वह ईश्वर किस प्रकार योगक्षेम करता है, कैसे दृश्य प्रसारित करता है, उसे संयोग कहते हैं। वह दृश्य नाम, रूप या योग के विभिन्न अंगों के अनुष्ठान को सही दिशा देनेवाला है। इसके बिना क्लेश नष्ट होते ही नहीं। उस दृश्य और द्रष्टा का मिलन संयोग है। यह मिलन ही हेय का साधन है। उन्होंने दृश्य का स्वरूप बताया जो प्रकाश क्रिया और स्थिति स्वभाववाला है। ज्योतिर्मय प्रकाशस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति, प्राप्ति की क्रिया में आपकी अवस्था कैसी है?-इस स्थिति का बोध कराना, पुरुष के लिए भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका प्रयोजन है। यह दृश्य जीवित प्राणियों और इन्द्रियों के द्वारा ही स्वरूप प्रकट करता है। यह दृश्य प्रकृति के अंतर्गत नहीं है; क्योंकि यह द्रष्टा के संसर्ग से संचालित है। दृश्य चार रूपों में प्रसारित होता है- विशेष, अविशेष, लिंग और अलिंग। **'पुरुषविशेष ईश्वरः'** दृश्य बताता है कि विशेष के परिवेश में आपकी पहुँच कैसी है? अविशेष प्रकृति है। दृश्य से सूचना मिलती है कि प्रकृति का कितना दबाव आपके ऊपर है। कभी यह दृश्य मूर्तरूप में (लिङ्गरूप में) प्रकट होता है और

कभी भगवान अमूर्त होकर समझाते हैं। आकाशवाणी, अंग-स्पन्दन आदि जिसके कई रूप हैं।

द्रष्टा आत्मा चेतन, ज्ञानस्वरूप और स्वभाव से सर्वथा शुद्ध है, निर्विकार है; किन्तु बुद्धि वृत्ति के अनुरूप देखनेवाला है। बुद्धि में वृत्तियों का जैसा दबाव है उसी आधार से यह दृश्य प्रसारित करता है। दृश्य का प्रयोग केवल द्रष्टा के लिये है। किन्तु जिस पुरुष का भोग और अपवर्गरूपी कार्य पूर्ण हो चुका है उस पुरुष के लिए इस संयोग का कोई उपयोग नहीं रह जाता, फिर भी यह नष्ट नहीं होता। अन्य साधारण व्यक्तियों के मार्गदर्शन के लिए उसका उपयोग बना रहता है। उसके हित के लिए इस जानकारी का सूत्रपात उसे महापुरुष के माध्यम से होता रहता है।

यह 'संयोग' है क्या? **'स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धि हेतुः संयोगः।'** (२/२३)- स्वशक्ति अर्थात् दृश्य, जो मोक्ष दिलाता है और स्वामिशक्ति पुरुष-इन दोनों के स्वरूप की उपलब्धि संयोग है। यह दोनों साथ-साथ कार्य करें, हमें उपलब्ध हों, हमारे साथ इनका संयोग हो- इनका मिलना संयोग है। इस संयोग के बिना साधन जागृत ही नहीं होता।

संयोग का कारण अविद्या है। अविद्या के नष्ट होते ही संयोग भी नष्ट हो जाता है। यही 'हान' है-पुनर्जन्मादि दुःखों का अत्यन्त अभाव है। यही चेतन आत्मा का कैवल्य पद है। गुरुदेव कहते थे- **'हानि हो जिससे चौरासी'** अर्थात् अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज- इन चार रूपों में प्रसारित अनन्त सृष्टि का अन्त हो जाना, भव-बन्धन का छूट जाना 'हान' है। यह हान विवेकख्याति से आता है। विवेक-ज्ञान के समय साधना ज्ञान की सात भूमिकाओं से होकर गुजरती है। सातों में दक्षता आ जाने पर अशुद्धि का अन्त होकर ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

विवेक-ज्ञान की प्राप्ति योग के अनुष्ठान से होती है, जिसके आठ अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं। यम पाँच हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। सतत अभ्यास से देश, काल और जन्मादि की सीमा से ऊपर उठते ही ये यम सार्वभौम और महाव्रत बन जाते हैं। चिन्तन द्वारा वृत्तियों का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में

परिवर्तन और उत्कर्ष जन्म-परिवर्तन है। उत्कर्ष जिस स्तर तक है वैसा ही जन्म भविष्य में मिलता है। जन्म-परिवर्तन से यमों के पालन में व्यवधान नहीं पड़ता तब वे महाव्रत हो जाते हैं। यम सध जाने पर नाम, रूप किसी भी देश में चित्त लगाने से तत्क्षण सुरत लग जाती है। गर्मी-सर्दी इन यमों के पालन में बाधक नहीं रह जाते। यम इन अवरोधों से बाधित न होने पर, इससे ऊपर उठ जाने पर सार्वभौम कहलाते हैं।

योग का दूसरा अंग 'नियम' - शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति का समुच्चय है। वितर्क अर्थात् विजातीय तर्क इन नियमों के पालन में बाधा डालते हैं। इसके निवारण के लिए वितर्कों के विरोधी भावों की संकल्पना करनी चाहिए। यम-नियमों के परिपालन से भजन में शान्त, स्थिर, सुखपूर्वक बैठने की क्षमता आती है, जो योग का तृतीय अंग है 'आसन'। योगासन के नाम पर समाज में तरह-तरह के शारीरिक व्यायाम सिखाये जा रहे हैं, जबकि योग से उनका दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। योगसम्मत आसन यम-नियमों के सहज ढल जाने के कारण उनके पालन में प्रयत्न की शिथिलता आने और परमात्मा में मन लगाने से सम्पन्न होता है। यदि बाह्य शारीरिक व्यायाम ही आसन होता तो परमात्मा में मन लगाने की क्या आवश्यकता थी?

आसन सधते ही द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता। इसके उपरान्त प्रकृति में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो साधक को विचलित कर सके। राग-द्वेषादि द्वन्द्व साधक पर अब प्रभाव नहीं डाल पाते।

आसन की परिपक्वता में श्वास-प्रश्वास की गति का रुक जाना प्राणायाम है। किया गया था आसन और अवस्था प्रकट हो गयी प्राणायाम की! जब आसन में सुखपूर्वक सुरत स्थिर हो जाती है, उस समय श्वास जो हम लेते हैं (सजातीय प्रवृत्ति-अक्लिष्ट वृत्ति) और प्रश्वास (जो हम-आप बाहर निकालते हैं, त्यागते हैं, विजातीय प्रवृत्ति-क्लिष्ट वृत्ति) इन दोनों का नियंत्रण हो जाता है। श्वास एक निर्धारित आयाम में (नाम या रूप में) प्रवाहित होने लगती है- इसी का नाम प्राणायाम है। यम-नियमों के परिपालन से आसन की अवस्था आयी और आसन सधते ही प्राणायाम की स्थिति प्रकट हो गयी। प्राणायाम के चार क्रमोन्नत सोपान हैं। वाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति, स्तम्भवृत्ति प्राणायाम देश,

काल और संख्या द्वारा देखा जाता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। बाह्यवृत्ति प्रकृति की ओर देखती है। आभ्यन्तरवृत्ति ईश्वर-पथ में योग-साधना के अंग-प्रत्यंगों का विश्लेषण करती है। चिन्तन बाह्यवृत्ति का है तो काम, क्रोध, लोभ इत्यादि किस देश में कितने समय तक रुका, वहाँ से उसे हटाकर स्तम्भ वृत्ति में लगायें। इसी तरह आभ्यन्तरवृत्ति में गया चित्त विवेक, वैराग्य, शम, दम किस देश में कितने समय तक रुका, संख्या द्वारा ज्ञात करें और वहाँ से हटा कर स्तम्भवृत्ति में लगायें। इस प्रकार निरीक्षण करने से एक स्तर ऐसा आता है कि **'बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः।'** (२/५१)- बाह्य और आन्तरिक विषयों का सर्वथा रुक जाना चौथा प्राणायाम है।

प्राणायाम सम्पन्न होते ही प्रकाशस्वरूप परमात्मा और साधक के बीच पड़ा वृत्तियों का आवरण क्षीण हो जाता है, ईश्वर प्रतिभासित होने लगता है। मन में स्वरूप को धारण करने की क्षमता आ जाती है। आरम्भिक अवस्था में साधक का मन नाम या रूप में टिकता नहीं। प्राणायाम के सधते ही यह विचलन समाप्त हो जाता है। नाम या रूप में कहीं भी सुरत स्थिर करना चाहें, कर सकेंगे।

योग का पाँचवाँ प्रस्तर है 'प्रत्याहार'। विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के साथ तदाकार हो जाना प्रत्याहार है। जिन विषयों से इन्द्रियाँ प्रभावित थीं उनका प्रभाव समाप्त हो जाता है। प्रत्याहार सधते ही इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है, जो जितेन्द्रिय पुरुष की अवस्था है।

इस प्रकार महर्षि पतंजलिप्रणीत योगदर्शन का द्वितीय पाद 'साधनपाद' पूर्ण होता है, जिसमें योग के आठ अंगों में से पाँच (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार) का निरूपण इस पाद में हुआ। शेष तीन अंगों-धारणा, ध्यान और समाधि को महर्षि ने अग्रतः तृतीय पाद विभूतिपाद के अन्तर्गत किया है क्योंकि लक्ष्य परमात्मा को धारण करते ही ईश्वर द्वारा मिलनेवाली विभूतियाँ ध्यान और समाधि स्तर में भी प्रकट होने लगती हैं, जिनका उल्लेख यथास्थान किया जायेगा।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

तृतीय अध्याय - विभूतिपाद

योग के आठ अंगों में से प्रथम पाँच का वर्णन दूसरे पाद साधनपाद में किया गया। अंतिम तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन इस तृतीय पाद विभूतिपाद में प्रस्तुत है। प्रथम पाँच को बहिरंग साधन कहा जाता है जो संप्रज्ञात समाधि में परोक्ष रूप से सहायक हैं। अंतिम तीन अंग धारणा, ध्यान और समाधि को अंतरंग कहा जाता है किन्तु निर्बीज समाधि के सन्दर्भ में ये तीनों भी बहिरंग हैं; क्योंकि इन तीनों के अभाव में ही निर्बीज समाधि संभव है। धारणा, ध्यान और समाधि- ये तीनों अभ्यास के द्वारा एक ही लक्ष्य पर स्थिर हो जाते हैं तो इसे संयम कहा जाता है, जो योग का पारिभाषिक शब्द है। इस संयम के साथ ही विभूतियों का प्राकट्य है। इस विभूतिपाद में तीनों शब्दों के स्थान पर अधिकांश सूत्रों में 'संयम' शब्द ही प्रयुक्त है।

धारणा, ध्यान और समाधि योग की क्रमोन्नत अवस्थाएँ हैं। इन तीनों का अभ्यास संयम है और संयम से अनेक विभूतियों का प्रस्फुटन होता है, इसीलिये इन तीनों का वर्णन विभूतिपाद में किया गया है। विभूति परमात्मा से मिलनेवाला ऐश्वर्य या अलौकिक क्षमताएँ हैं, जो योग के इन अंगों के अभ्यास के समय महापुरुष में आ जाती हैं। रामचरितमानस में भगवान शिव की विभूतियों का वर्णन है-

सुकृति संभु तन बिमल बिभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती।।
(बालकाण्ड, मंगलाचरण, चौपाई)

पुण्यात्मा शंकर जी के शरीर में निर्मल विभूति पायी जाती है; जैसे- अवढरदानी, दान में औदार्य-चाहे जिसका उद्धार कर दें, सर्वज्ञता-'**सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।' (मानस, १/५५/४)** ये विभूतियाँ गुरु महाराज के चरणों की देन हैं।

संसार में सर्वप्रथम अवतरित अपौरुषेय वाणी गीता के अध्याय दस में भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं–

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।। (१०/४०)

शत्रुओं को सन्ताप देनेवाले अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है। यह वर्णन तो संक्षेप में कहा गया। वस्तुतः वे अनन्त हैं। जैसे– भगवान ने कहा कि सूर्य में प्रकाश मैं हूँ, पृथ्वी में क्षमता मैं हूँ, आकाश की व्यापकता मैं हूँ; वृष्णिवंशियों में वासुदेव, पाण्डवों में धनंजय, ऋषियों में सनकादि इत्यादि। इस प्रकार जो कुछ भी अध्याय दस में कहा गया, संक्षेप में है; क्योंकि अगले ही अध्याय में है कि अर्जुन इन विभूतियों को देखना चाहता है। प्रत्यक्ष दर्शन से ही विभूतियाँ समझ में आती हैं।

काकभुशुण्डि ने भगवान का दर्शन किया। उनके उदर में प्रविष्ट हुए तो– **'उदर माझ सुनु अण्डज राया। देखेउँ बहु ब्रह्माण्ड निकाया।।' (मानस, ७/७९/३)**–उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखें। यह पृथ्वी, तारागण, सूर्य, चन्द्र इत्यादि एक ब्रह्माण्ड है, उन्होंने अनन्त ब्रह्माण्ड देखा। **'प्रति ब्रह्माण्ड राम अवतारा।' (मानस, ७/८०/८)**–प्रत्येक ब्रह्माण्ड में अवतार देखा। ऐसा भी कुछ देखा–**'जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ, बरनि कवन बिधि जाइ।।' (७/८० क)**–कभी देखा नहीं, सुना नहीं, समझने में भी नहीं आ रहा था, ऐसा अलौकिक दृश्य दिखायी पड़ा। **'लोक लोक प्रति भिन्न बिधाता। भिन्न बिष्नु सिव मनु दिसित्राता।।' (मानस, ७/८०/१); 'दसरथ कौसल्या सुनु ताता। बिबिध रूप भरतादिक भ्राता।।' (मानस, ७/८०/७); 'भिन्न भिन्न मैं दीख सबु, अति बिचित्र हरिजान। अगनित भुवन फिरेउँ प्रभु, राम न देखेउँ आन।। (मानस, ७/८१ क)** ब्रह्मा, विष्णु, महेश कभी वृद्ध, कभी युवा भिन्न-भिन्न दिखायी पड़े, केवल परमात्मा राम अपरिवर्तनशील मिले। अर्थात् चिन्तन एक परमात्मा का और उन्हीं परमात्मा के चिन्तन के अन्तराल में ये विभूतियाँ फलीभूत होती हैं।

सन्त कबीर के समक्ष यही दृश्य आया तो उन्होंने कहा–

देखि देखि जिय अचरज होई।
यह पद बूझै बिरला कोई।।
धरती उलटि अकासहिं जाई।
चींटी के मुख हस्ति समाई।।
सूखे सरवर उठे हिलोरा।
बिन जल चकवा करे किलोला।।
बैठा पण्डित पढ़े पुराना।
बिन देखे का करै बखाना।। (सबद, १०१)

कबीर ने अचम्भा देखा, आश्चर्य देखा और '**जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मनहूँ न समाइ।**' एक ही बात है। हर महापुरुष के समक्ष ये विभूतियाँ आती हैं; किन्तु अन्तर्चिन्तन में धारणा, ध्यान, समाधि की अवस्था के साथ ही इनका प्रस्फुटन है, जिनमें प्रस्तुत है 'धारणा'–

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।।१।।

किसी एक स्थल पर चित्त को बाँधना धारणा है। चित्त को जहाँ ठहराया जाय, उस लक्ष्य को धारण किये रहना धारणा है। योगपथ में नाम, रूप धारण करने के मुख्यतः दो देश अथवा स्थल हैं। साधना हल्की होने पर शौच, संतोष, तप, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य इन्हें धारण किया जाता है। अवस्था उन्नत हो जाने पर केवल नाम में, श्वास में सुरत लगाया जाता है। यह धारणा ही 'ध्यान' में परिवर्तित हो जाता है–

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।।२।।

जहाँ चित्त को लगाया गया, उसी में वृत्ति का एकतार चलना, क्रम न टूटना ध्यान कहलाता है।

पूज्य महाराज जी कहते थे, "हो! चिन्तन तैल-धारावत् अविच्छिन्न होता रहे, श्वास बाँस की तरह खड़ी हो जाय, ओम् ओम् ओम् ओम्... दूसरा कोई विकल्प न आये, इस प्रकार चिन्तन में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है।" अन्य एक भी विकल्प आ गया तो ध्यान खण्डित हो गया। ध्यान में

ध्याता और ध्येय का द्वैत पाया जाता है, ध्यान के प्रयास की चेतनता नहीं पायी जाती। ध्यान सूक्ष्म होते-होते जब केवल ध्येय ही प्रकाशित रहता है, तब 'समाधि' की अवस्था आ जाती है-

तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।।३।।

जब केवल ध्येयमात्र की प्रतीति रह जाय और चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाय, तब वही ध्यान समाधि में परिवर्तित हो जाता है।

यही सन्त कबीर कहते हैं, '**सुरत समानी शब्द में, ताहि काल ना खाय।**' मन की दृष्टि का नाम सुरत है। सुरत शब्द में समा जाय, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाय, जिसे देखता है वह ध्येयमात्र ही रह जाय- इसका नाम समाधि है। '**सम आदि स समाधिः**', '**सम्यकधीयते चित्ते यस्मिन् स समाधिः**' आदि तत्त्व परमात्मा में समत्व प्राप्त करने की अवस्था आ जाती है; जिसमें लगाया था चित्त को, चित्त उसी के तदाकार हो गया, यही समाधि है।

धारणा, ध्यान और समाधि तीनों साधनों का सामूहिक नाम 'संयम' है-

त्रयमेकत्र संयमः।।४।।

एक ध्येय में धारणा, ध्यान और समाधि का होना संयम है। 'संयम' शब्द से इन तीनों का ही अभिप्राय है। पहले ध्येय को धारण करना होगा, ध्यान की स्थिति से गुजरना होगा, केवल ध्येय की अनुभूति रहने पर समाधि- इस प्रकार संयम सध गया। इन तीनों का प्रतिफलन संयम है।

संयम सहज होते ही इसका प्रभाव देखें-

तज्जयात्प्रज्ञालोकः।।५।।

संयम सधते ही बुद्धि ज्योतिर्मय परमात्मा के प्रकाश से प्रकाशित हो जाती है। '**प्रज्ञालोकः**'- प्रज्ञा अलौकिक पकड़वाली हो जाती है।

यह संयम अकस्मात् नहीं हो जाता, क्रम-क्रम से चलने पर ही सिद्ध होता है-

तस्य भूमिषु विनियोगः।।६।।

उस संयम को क्रम से भूमियों में लगाना चाहिए। धारणा भूमि है, ध्यान भूमि है, समाधि भूमि है, इस प्रकार क्रम-क्रम से चलने पर संयम सध जाता है।

इस संयम की विशेषता बताते हैं–

त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः।।७।।

पाद दो में जो पाँच साधन बताये गये हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार– इनकी अपेक्षा धारणा, ध्यान और समाधि सूक्ष्म हैं, गहराई में हैं, अन्तरंग साधन हैं; फिर भी,

तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य।।८।।

अंतरंग होने पर भी धारणा, ध्यान और समाधि के बीज तो विद्यमान ही हैं अतः निर्बीज समाधि की तुलना में ये साधन बहिरंग ही हैं। बहिरंग का आशय प्रकृति की ओर गमन नहीं है बल्कि यह समाधि की ऊपरी परत है। निर्बीज समाधि और गहराई में है, तुलना में बहिरंग है।

व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ
निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः।।९।।

व्युत्थान संस्कार अर्थात् मन की चंचलता के अभिभव अर्थात् तिरोहित हो जाने और निरोध के संस्कारों के प्रादुर्भाव (प्रकटीकरण) के क्षण में चित्त का निरोध-संस्कारों से ओतप्रोत होना चित्त का निरोध-परिणाम है। इससे लाभ?–

तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्।।१०।।

इस निरोध-संस्कार के बल से चित्त एकदम '**प्रशान्तवाहिता**'-प्रशान्त प्रवाहित हो जाता है।

गीता में भगवान कहते हैं– '**जितात्मनः प्रशान्तस्य**' अर्थात् जिसने अंतःकरण और मनसमेत इन्द्रियों को जीत लिया है, चित्तवृत्ति शान्त प्रवाहित है, उस योगी में '**परमात्मा समाहितः**' (६/७)-परमात्मा सदैव समाया हुआ रहता है। यही महर्षि पतञ्जलि भी यहाँ कहते हैं कि निरोध-परिणाम के

प्रभाव से चित्तवृत्ति प्रशान्तवाहिता होती है। बुरे संकल्प तो समाप्त ही हो जाते हैं, भले संकल्प भी नहीं उठते। चित्त में कोई उद्वेग नहीं रह जाता।

इस समाधि का परिणाम देखें–

सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।।११।।

चित्त से सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करनेवाली वृत्ति का मिट जाना और ध्येय विषय का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता अवस्था का उदय हो जाना चित्त का समाधि-परिणाम है। उसकी समाधि भली प्रकार है।

उसके पश्चात् की स्थिति का वर्णन करते हैं–

ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः।।१२।।

वृत्तियों के निरोध के पश्चात् विषयों का उदय होना, शान्त होने पर चित्त का ध्येय में समाहित हो जाना समाधि है। तदनन्तर जब शान्त होनेवाली और उदय होनेवाली दोनों वृत्तियाँ एक-सी हो जाती हैं, वह चित्त का एकाग्रता-परिणाम है। अब चित्त भली प्रकार एकाग्र है, न तो वृत्ति उदय होती है और न आगे किसी को शान्त करना है।

अब तक तीन परिणाम बताये गये- निरोध-परिणाम (संस्कारों का निरोध), समाधि-परिणाम (लक्ष्यमात्र का आभास), इन दोनों के पश्चात् शान्त और उदय होनेवाली वृत्तियाँ एक-सी हो जाने पर चित्त एकाग्रता में परिणत हो जाता है।

अब चित्त के सदृश ही भूत और इन्द्रियों के परिणाम बतलाते हैं–

एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः।।१३।।

निरोध, समाधि और एकाग्रता इन्हीं के परिणामों के द्वारा पंच सूक्ष्मभूतों शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध मे होनेवाले अर्थात् सभी इन्द्रियों के अन्तराल में होनेवाले धर्म-परिणाम, लक्षण-परिणाम और अवस्था-परिणाम की व्याख्या भी हो गई। योगदर्शन में महर्षि ने यहाँ पहली बार धर्म का नाम लिया। जब संस्कार का निरोध हो गया, समाधि की स्थिति आप्लावित है, उदय तथा अस्त होने वाले दोनों विकार शान्त हो गये, चित्त में एकाग्रता-परिणाम आया, तब 'धर्म' शब्द का प्रयोग हुआ – यह धर्म-परिणाम है। योगी के लक्षण क्या होते

हैं, लक्षण प्रकट हो गये - यह लक्षण-परिणाम है। योग की अवस्था उसमें भली प्रकार आ गयी है - यह अवस्था-परिणाम है। निरोध-परिणाम, समाधि-परिणाम और एकाग्रता-परिणाम के माध्यम से उक्त तीनों का भी वर्णन हो गया। योग की अवस्था, लक्षण और धर्म प्रकट हैं। यह धर्म क्या है?-एक प्रश्न है।

शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी।।१४।।

शान्त और उदित होनेवाली वृत्तियों के लिए कोई देश नहीं अर्थात् उन वृत्तियों के व्याप्त होने के लिए कोई स्थान ही नहीं बचा - धर्म का यह अनुपात जहाँ है वही धर्मी है।

शान्त होनेवाली अविद्या, अस्मितादि, पुनर्जन्मादि, जन्म, आयु और भोग के कारणवाली वृत्तियाँ तथा उदित होनेवाले समाधि-एकाग्रता-परिणाम इत्यादि के '**अव्यपदेश्य**'-व्याप्त होने के लिए कोई स्थान नहीं है। धर्म का ऐसा अनुपात अर्थात् धर्म की इस तुलनात्मक अवस्था में पुरुष धर्मी अर्थात् धर्मात्मा होता है। इसी अनुपात का नाम धर्म है। वह ईश्वरप्राप्त है।

क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः।।१५।।

क्रम की भिन्नता परिणाम की भिन्नता का कारण है। एक ही साथ चलने वाले साधकों में कोई शीघ्र प्राप्त कर लेता है तो कोई कुछ अन्तराल से। निरोध-समाधि-एकाग्रता तथा धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणाम सबके साथ एक-जैसा प्रकट नहीं होते। इसमें '**क्रमान्यत्वम्**'-क्रम की भिन्नता ही कारण है।

पाद एक में उल्लेख है कि एक साथ एक-जैसे साधक योग-साधन में प्रवृत्त होते हैं किन्तु उन सबके प्राप्तिकाल में भिन्नता आ जाती है। क्रम की भिन्नता ही इसका कारण है। सबके चित्त की अवस्था एक-जैसी नहीं है, वही इस अन्तराल का हेतु है। अनुभूति की उपलब्धि में श्रद्धा का स्तर पूर्वापर परिणाम का कारण बन जाता है। '**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**' **(गीता, ४/३९)**- श्रद्धावान्, संयतेन्द्रिय तथा उस तत्त्व के परायण पुरुष ही कैवल्य ज्ञान प्राप्त कर पाते हैं, जिसे यहाँ निरोध-समाधि-एकाग्रता; धर्म-लक्षण-अवस्था-परिणाम द्वारा कहा गया है।

संयम के सधते ही विभूतियाँ मिलने लगती हैं। अभी तीन प्रकार के परिणामों का वर्णन किया गया अतः सर्वप्रथम इनमें संयम करने का फल कहते हैं–

परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्।।१६।।

तीनों परिणामों में संयम सध जाने से अतीत अर्थात् भूतकाल तथा **'अनागत'**-जो अभी आया नहीं, ऐसे भविष्य या होनी का ज्ञान हो जाता है।

हम लोगों के गुरु महाराज किसी के भी भूत और भविष्य को देख लेते थे। हमारे सतीर्थ अग्रज स्वामी श्री भगवानानन्दजी महाराज के चार-पाँच बालसखा भी पूज्य महाराजश्री की शरण में आ गये। महाराज जी ने उनसे कहा, "बेटा! तुम लोगों में साधु होने का संस्कार नहीं है, अतएव घर लौट जाओ, अपने व्यवसायों में लग जाओ। हाँ, तुममें से एक का संस्कार लगता है।" सब तो चले गये लेकिन वह एक रुक गया। महाराज जी बोले, "बेटा! नाम तो यही है गुलाबसिंह, लेकिन वह व्यक्ति तुम नहीं हो, कोई दूसरा ही है।" उसे भी महाराज जी ने किसी प्रकार समझा-बुझाकर वापस भेज दिया।

इस घटना के दो वर्ष पश्चात् हम अनुसुइया आश्रम पहुँचे। मेरे आश्रम पहुँचने से पूर्व ही पूज्यश्री को भगवान ने अनुभव में दिखाया कि एक नदी है उसमें किंचित् काला जल बह रहा है, भयंकर लहरें उठ रही हैं। नदी के तट पर एक नवयुवक बैठा विकल होकर रो रहा है। पूज्यश्री वहाँ आते हैं, कह रहे हैं, "क्यों रोते हो? जल में उतरो, पार हो जाओगे। मैं हूँ न! मैं देख रहा हूँ। डरो मत! इस तरह तैरो।" युवक तैरने लगा। चार-पाँच मीटर तैरने के पश्चात् युवक को प्रोत्साहित करते हुए महाराज जी ने कहा, "बस बेटा! ऐसे ही तैरते रहो, पार हो जाओगे।"

प्रातः गुरुदेव ने इस संकेत पर विचार किया कि नदी भव-सरिता है। इसकी भयंकरता इतनी है। उत्ताल तरंगें इसे अगाध और अगम बना रही हैं। कोई युवक इस भव-सरिता को पार करने के लिए विकल है, जिसका मार्ग-दर्शन करना है।

हम पर दृष्टि पड़ते ही महाराज जी ने मुझे पहचान लिया और बहुत प्रसन्न हुए। सन्तों में मेरी श्रद्धा थी। अभी तक जितने महात्माओं को हमने देखा

था, महाराज जी सबसे अच्छे प्रतीत हुए - घोर जंगल का एकाकी निवास, देदीप्यमान चेहरा, सौम्य मूर्ति, स्नेहिल व्यवहार! हमने सादर प्रणाम किया, बैठ गये। महाराज जी ने कुशलक्षेम, सामान्य परिचय लिया। दस-पाँच मिनट की वार्ता के अनन्तर उन्होंने पूछा, "साधु तो नहीं होना है?" हमने सोचा, अपरिचित महात्मा; 'हाँ' कहने पर कहीं किसी रूढ़ि में न उलझा दें। अतः सावधानीपूर्वक टाल-मटोलवाला उत्तर दिया- "महाराज! अपने बल पर कोई कह तो नहीं सकता कि हम साधु हो जायेंगे।" हम महाराज जी से कुछ दूर चले गये कि कहीं कुछ और पूछ न बैठे। महाराज जी ने समीप बैठे लोगों से कहा, "अबउँ सार कवई काटत है (अर्थात् अब भी यह पैंतरा भाँज रहा है।) मैंने देखा है, इसे रहना है। हमें इसे रास्ता बताना है।" हमने सोचा, अब तक जीवन में जितने महापुरुष मिले, आप सबसे अच्छे हैं। इनसे कुछ साधना की लाईन सीख लें, फिर कहीं निकल जायेंगे। क्योंकि भजन तो हमें करना है। यह नहीं मालूम था कि भजन गुरु महाराज कराते हैं। न चाहते हुए भी वहाँ रहना पड़ा। भजन भी जागृत हो गया और आज भी गुरु महाराज श्वास पकड़कर आगे-पीछे साथ हैं। यही है संयम सध जाने के पश्चात् महापुरुष की स्थिति। भूत-भविष्य का ज्ञान उनकी सहज विभूति है। इसी प्रकार-

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्
संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्।।१७।।

शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों का परस्पर अध्यास हो जाने के कारण मिश्रण हो रहा है। उसके विभागों में संयम करने से '**सर्वभूतरुतज्ञानम्**'- सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाता है।

अनुसुइया आश्रम में ऐसी घटनाएँ होती ही रहती थीं। महाराज जी प्रायः कहते थे कि यह बन्दर ऐसा कह रहा है, वह चिड़िया ऐसा बोल रही है। एक बार एक व्यक्ति मंदाकिनी गंगा में स्नान कर रहा था। उसकी गठरी खो गयी। उसे आश्चर्य था कि कोई व्यक्ति दिखायी नहीं पड़ा, पोटली कौन ले गया? उस पोटली में सरकारी कागजात, कुछ रुपये, घड़ी इत्यादि थे। लगभग एक घण्टा ढूँढ़ने के पश्चात् उसने महाराज जी से निवेदन किया कि सरकार! उसमें सरकारी कागजात थे, हमारी नौकरी चली जायेगी। महाराज जी द्रवित हो गये,

आसन से उठे, एक ओर चल पड़े। कुछ दूर चट्टान पर एक बंदरिया बैठी थी। महाराज जी ने उधर देखा तो उसने गर्दन झुका दिया, बोली, 'ऊँ....।' महाराज जी ने कहा, "देख रे! वह बता रही है, वहाँ देख।" वह व्यक्ति उस चट्टान पर गया। झाड़ियों की ओट में पोटली पड़ी हुई थी। पोटली फट गयी थी किन्तु सामान सुरक्षित मिल गये।

एक समय गुरुदेव एक भक्त के यहाँ थे। थोड़ी दूर पर एक कुत्ता गाढ़ निद्रा में भी भूँक रहा था और यदा-कदा पाँव भी हिलाता था। महाराज जी ने कहा- "यह भी स्वप्न में किसी को भगा रहा है।" भक्तों ने पूछा, "भगवन्! यह किसे भगा रहा है?" महाराज जी ने उसकी ओर दृष्टिपात किया और दो मिनट पश्चात् बोले, "लगता है कल यहाँ भण्डारा होगा, पत्तलें फेंकी जायेंगी। यहाँ पर पत्तल खाने के लिए गायें, कुत्ते, बकरी इत्यादि एकत्र होंगे, यह कुत्ता उन्हें भगा रहा है। यह भविष्य देख रहा है।"

उस समय वहाँ भण्डारे की कोई योजना भी नहीं थी। बात आई, गयी और हो भी गयी। रात्रि को कुछ सभ्रान्त सेठ लोग भी महाराज जी के दर्शनार्थ आये और चले गये। दूसरे दिन प्रातः ही कुछ लोग कारीगरों के साथ कलछी, तवा और कड़ाह लेकर आ गये। भण्डारे का उपक्रम बन गया। भण्डारा सम्पन्न हो गया। पत्तल भी फेंके गये। सबने देखा कि वही कुत्ता गायों को भगा रहा था। महाराज जी ने स्मरण दिलाया, "देखो, यह भगा रहा है।" सच ही भण्डारा हो गया। यह है '**भूतरुतज्ञानम्**'-प्राणियों की वाणी का ज्ञान हो जाना।

सती ने भगवान शंकर से कहा, "भगवन्! मैंने कोई परीक्षा नहीं ली, आपकी तरह मैंने भी उन्हें प्रणाम कर लिया।" शंकर जी को सन्देह हुआ। ध्यानस्थ होकर बैठ गये और '**सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।**' **(मानस, १/५५/४)**-सती के चरित्र प्रकट हो गये। भगवान शिव ने देख लिया कि सती ने सीता का रूप धारण कर परीक्षा लेने का अपराध किया है।

शब्द, अर्थ और आशय को अलग-अलग करने की क्षमता आ जाने पर इन पर संयम करने से सभी प्राणियों का आशय व्यक्त हो जाता है। उसने किसी की वाणी सुनी, वक्ता को देखा, वाणी को धारण किया, कुछ ही पलों में वृत्ति एकतार चलने लगी, ध्यान हो गया, ध्येयमात्र की प्रतीति रह गयी।

समाधि की अवस्था आ गयी। तीनों जहाँ एकत्र हुए, संयम सध गया। उस संयम से ज्ञात हो जाता है कि उस वाणी का आशय क्या है? यह समस्त क्रिया मिनट-दो मिनट में सम्पन्न हो जाती है; क्योंकि संयम सध चुका है। अब देखें, प्रकारान्तर से संयम और विभूतियाँ-

संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्।।१८।।

संयम द्वारा संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने से पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है।

प्राणी अपनी इन्द्रियों द्वारा जो कुछ कर्म करता है तथा बुद्धि द्वारा जो कुछ चिंतन करता है, वह सब उसके अंतःकरण में संस्काररूप में संचित हो जाते हैं। ये संस्कार जन्म-जन्मान्तरों से संग्रहीत होते चले आ रहे हैं। इन संस्कारों में संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से योगी को पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। जिस प्रकार अपने संस्कारों के साक्षात् से अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है, उसी प्रकार दूसरों के संस्कारों में संयम करने से उनके भी पूर्वजन्मों का ज्ञान हो जाता है।

हम लोगों के सतीर्थ स्वामी शिवानन्द जी पूज्य महाराज जी की शरण में आये तो तीसरे दिन महाराज जी ने उन्हें सम्बोधित कर कहा, "देखो, कई जन्मों पूर्व हमारा-तुम्हारा सम्बन्ध था, वही संस्कार तुम्हें खींचकर यहाँ ले आया है। भजन के लक्षण तो नहीं हैं फिर भी सेवा करोगे तो पार हो जाओगे।" महापुरुष संयम का प्रयोग कहीं भी कर लें, उन्हें निर्णय मिल जायेगा कि संस्कारों की स्थिति कैसी है। ऐसे महापुरुषों द्वारा संयम के विभिन्न प्रयोगों की चर्चा में कहते हैं-

प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्।।१९।।

दूसरे के चित्त का संयम द्वारा साक्षात् कर लेने से उसके चित्त का ज्ञान हो जाता है।

किसी के चित्त का हाल जानने के लिए महाराज जी कहा करते थे कि उस व्यक्ति का स्वरूप पकड़कर ध्यानस्थ हो जाओ। उसके अन्दर क्या है?- प्रकट हो जायेगा। यह विभूति महापुरुषों में सहज ही पायी जाती है।

न च तत् सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्।।२०।।

किन्तु वह जानकारी बिना अवलम्बन के होती है; क्योंकि योगी के चित्त का वह विषय नहीं है। योगी का चित्त शान्त प्रवाहित है और उसका चित्त वेगवान है, चंचल है। वह जिस क्षण किसी का चित्त पकड़ते हैं उन क्षणों में क्या प्रवाहित है, उतना समझ में आ जाता है। वह चंचल चित्त अगले क्षणों में न जाने कहाँ पहुँचा देता!

कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुः-
प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।।२१।।

शरीर के रूप में संयम कर लेने से जब वृत्ति की ग्राह्यशक्ति रोक ली जाती है, तब चक्षु का प्रकाश से सम्बन्ध न होने के कारण योगी अन्तर्धान हो जाता है।

शरीर के अन्तराल में भजन में लव लग गयी- यह संयम है। शरीर के अन्तराल में जब संयम सध जाता है तो '**तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**'-तब वह दूसरे के देखने में आनेवाली शरीर की दृश्यता-शक्ति को रोक लेने से दूसरों के नेत्रों की प्रकाशन-शक्ति से उसका सम्बन्ध न होने के कारण योगी अंतर्धान हो जाता है।

ध्यान की आरम्भिक अवस्था में तिल-जैसी छोटी-सी वस्तु को नासाग्र के समक्ष देखने का प्रयास करते हैं, उसे देखते-देखते सुरत को अन्दर ले जाते हैं। ध्यान में सुरत अन्दर चली गयी तो आँखें खुली रहती हैं किन्तु दिखायी कुछ भी नहीं पड़ता; क्योंकि आँखें नहीं देखतीं, उनके पीछे विचार देखते हैं। विचार हृदय के अन्दर ध्यान में चले जाते हैं। ध्यान के समय जिस व्यक्ति की पलकें खुली रहती हैं, उसका मन ध्यान में अधिक लगता है। इसीलिए आँखें बन्द कर भजन करने का विधान नहीं है। आँखें खुली रखकर भजन करें, पलक न गिरे तो मन अधिक लगता है। मन चंचल है। आँखें खुली रहने पर भी मन भजन से भागने लगता है; किन्तु भागने का संकल्प ज्ञात हो जाता है, उसका निवारण भी हो जाता है- इस प्रकार मन अधिक लगता है। भगवान शिव की ध्यान-मुद्रा देखें- आँखें अर्धोन्मीलित हैं, आधी खुली हैं। साधकों को ऐसा ही करना चाहिए।

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म
तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा।।२२।।

कर्म दो प्रकार के हैं- '**सोपक्रमम्**'–उपक्रमसहित और '**निरुपक्रमम्**'–उपक्रमरहित। गीता में इन्हीं को पुण्यकर्म और पापकर्म कहा गया है। उपक्रम सहित अर्थात् उपाय से होनेवाले और बिना उपाय के होनेवाले। पुण्यकर्म जो पूर्णता प्रदान करते हैं, उपायजन्य हैं। उपक्रमरहित बिना उपाय के होने वाले पापकर्म अधोगति की ओर ले जाते हैं। इन दोनों की स्थिति में संयम की पहुँच हो जाने पर, दोनों संस्कारों की स्थिति समझ लेने पर योगी को मृत्यु का ज्ञान हो जाता है। ये संस्कार कब तक चलेंगे, कब ये शान्त होंगे?–इसका ज्ञान हो जाता है और '**अरिष्टेभ्यः**'–अरिष्टों से भी साधक को ज्ञात हो जाता है कि विपदाओं का प्रवाह कैसा है? कितना है? उनके उतार–चढ़ाव और उनकी गति से भी ज्ञात हो जाता है कि अंतिम संस्कार के विलय में अभी कितना शेष है?

शरीर का निधन तो वस्त्र–परिवर्तन मात्र है, यह मृत्यु नहीं है। मृत्यु वही सराहनीय है जिसके पीछे जन्म न हो। संत कबीर कहते हैं कि यह अवस्था जीते जी आती है–

जीवत में मरना भला, मरै जो जाने कोय।
मरने से पहले मरे, अजर अमर सो होय।।

जा मरने से जग डरै, सो मेरो आनन्द।
कब मरिहौं कब पाइहौं, पूरन परमानन्द।।

मन मरा माया मरी, हंसा बेपरवाह।
जाका कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह।।

मैत्र्यादिषु बलानि।।२३।

संसार में कहीं मित्रता नहीं होती। जो प्रतीत होती है वह पारस्परिक व्यवहार है। कदाचित् आप किसी से मैत्री करने का प्रयास करें तो उसके विकार आप में भी आ सकते हैं या आपके विकार उसमें संक्रमित हो सकते हैं। जीवों के प्रति करुणा हो सकती है; किन्तु जहाँ तक मैत्री का प्रश्न है, आदि शंकराचार्य जी ने कहा था, '**कः शत्रुवे सन्ति निजेन्द्रियाणि, तान्येव मित्राणि**

जितानि यानि।'-संसार में शत्रु कौन है? अपनी इन्द्रियाँ! यही इन्द्रियाँ यदि जीत ली जाती हैं तो वही मित्र बनकर मित्रता में बरतती हैं, परम कल्याण करनेवाली हो जाती हैं। भगवान श्रीकृष्ण ने इसी इन्द्रियजय पर बल दिया, "अर्जुन! आत्मा ही शत्रु तथा आत्मा ही मित्र है।" कैसे? जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ जीत ली गईं, उनके लिये उन्हीं की आत्मा मित्र बनकर मित्रता में बरतती है और जिन पुरुषों द्वारा मनसहित इन्द्रियाँ नहीं जीती गयीं उनके लिये उन्हीं की आत्मा शत्रु है, शत्रुता में बरतती है, अधोगति और नीच योनियों में फेंकनेवाली होती है। अतः मैत्री इन्द्रिय-संयम की है। मैत्री आदि संयम में अर्थात् इन्द्रिय-संयम सध जाने पर बल प्राप्त होता है। सर्वोपरि बल आत्मस्थिति, आत्मकल्याणवाला बल मिल जाता है। बाह्य दृष्टि से देखा जाय तो '**सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं।।**' **(मानस, ४/६/१८)**; '**सखा परम परमारथु एहू। मन क्रम बचन राम पद नेहू।।**' **(मानस, २/९२/६)**

बलेषु हस्तिबलादीनि।।२४।।

विविध बलों में संयम जैसे-जैसे उत्तरोत्तर सधता जाता है, हर प्रकार के सामर्थ्य का बल मिल जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

बलं बलवतां चाहं कामराग विवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।। (गीता, ७/११)

काम और राग से रहित बलवानों का बल मैं हूँ। संसार में शाश्वत बल किसी के भी पास नहीं है। काम (कामना) तथा राग (प्रकृति से लगाव)- इनसे अतीत बल, भगवान कहते हैं कि मैं हूँ। ज्यों-ज्यों संयम सधता जाता है, त्यों-त्यों हर प्रकार के क्रमोन्नत सामर्थ्य का बोध होता जाता है। '**अपबल तपबल बाहुबल, चौथो है बल दाम। 'सूर' किशोर कृपा ते सब बल, हारे को हरि नाम।।**' उसे हरि-कृपा का बल प्राप्त हो जाता है।

पूर्वकाल में 'हस्ति' बल का मापदण्ड था। भीम में अस्सी हजार हाथी का, दुःशासन में दस हजार तथा धृतराष्ट्र में एक लाख हाथी का बल था।

आजकल 'हार्स पावर' बल का पैमाना है। इसी प्रकार साधनाओं की हर अवस्थाओं का बल उत्तरोत्तर उपलब्ध होता जाता है।

प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्।।२५।।

इसी पाद के पाँचवें सूत्र में महर्षि ने बताया कि संयम सध जाने से '**प्रज्ञालोकः**'–बुद्धि अलौकिक प्रकाश धारण करनेवाली हो जाती है। ठीक इसी प्रकार समाधिपाद के छत्तीसवें सूत्र में ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की चर्चा है। यहाँ महर्षि कहते हैं, '**प्रवृत्त्यालोकः**'–प्रवृत्ति भी अलौकिक ज्योति से संयुक्त हो जाती है। इस आलोक का न्यास करने से '**सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्**'– सूक्ष्म, व्यवधानयुक्त और दूर देश में कहीं भी स्थित वस्तु का ज्ञान हो जाता है।

उदाहरण के लिए, १९६२ ई. में भारत पर चीन ने आक्रमण कर दिया। पूज्य महाराज जी ने अनुसुइया में भक्तों से कहा, "हो, चीन ने हिमालय लाँघकर हमारे देश पर हमला कर दिया है। अब क्या हो रहा है, कोई हमें भी बताता!" एक भक्त ने महाराज जी को एक रेडियो अर्पित कर दिया। महाराज ने पूछा, "क्यों रे! आदमी बताता है कि लोहे का यंत्र?" भक्त ने कहा, "सरकार! यह रेडियो है। यह समाचारों से आपको अवगत कराता रहेगा।" उस क्षेत्र में रेडियो का प्रचार-प्रसार उस समय तक नहीं था।

एक निश्चित समय पर रेडियो से समाचारों का प्रसारण होता था। समाचारों को सुनकर महाराज जी चिन्तित हो उठते थे। एक दिन शाम को महाराज जी खिन्न मुद्रा में बैठे थे। अकस्मात् वे बोल उठे, "कल समाप्त हो जायेगा। कल युद्ध समाप्त हो जायेगा। भगवान ने अभी-अभी दिखाया कि मैं उस बर्फ की पहाड़ी पर चिलम हाथ में लिये बैठा हूँ। कुछ समयोपरान्त टीले पर खड़ा होकर मैं ही घोषित कर रहा हूँ- बस, बहुत हो गया। बन्द करो यह सब। इस रेखा के उस पार चीन है, इस ओर भारत है।"

दूसरे दिन प्रातः समाचार प्रसारित हुआ कि युद्ध-विराम हो गया है। युद्ध-विराम हो जाना सामान्य घटना है। स्वप्न में कुछ भी सुनायी पड़ सकता है; किन्तु वहाँ का वातावरण, जिसकी चर्चा एक दिन पूर्व ही कर दी, पहाड़ी दृश्य, बर्फ की पहाड़ियाँ- यह सब गुरुदेव ने अनुसुइया में बैठे-बैठे देखा।

रामचरितमानस में आता है, '**जथा सुअंजन अंजि दृग साधक सिद्ध सुजान। कौतुक देखत सैल बन भूतल भूरि निधान।।**' (१/१)-गुरु महाराज के चरण-रज मृदु अंजन तुल्य है। उस अंजन से हृदय के नेत्र खुल जाते हैं। वह एकान्त शान्त स्थल में रहते हुए भी कहीं का भी कोई कृत्य देख लेता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्।।२६।।

सूर्य में संयम करने से समस्त लोकों का ज्ञान हो जाता है।

'भुवन' यौगिक शब्द है। श्रीरामचरितमानस में तीन भुवन (त्रिभुवन), चौदह भुवन और अगणित भुवनों का उल्लेख है। वस्तुतः दस इन्द्रियाँ और अंतःकरण चतुष्टय (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) जीव की वृत्तियों के टिकने के ये चौदह स्थल ही चौदह भुवन हैं। इनकी अगणित प्रवृत्तियाँ अगणित भुवन हैं। इन चतुर्दश स्थलियों में भूत-प्राणियों की जब शरणस्थली रहती है तो यही चौदह अधिभूत हैं, भूतों के जन्म-मृत्यु के कारण हैं। साधना के फलस्वरूप इन चौदहों में दैवी सम्पद् प्रवाहित हो जाती है तो यही चौदह अधिदैव अर्थात् दैव का अधिष्ठान बन जाते हैं। स्तर उन्नत होने पर यही अधि आत्म, आत्मा का प्रसारण केन्द्र बन जाते हैं। दर्शन, स्पर्श और स्थिति मिलने के पश्चात् भुवन समाप्त हो जाते हैं, प्रकृति पुरुषत्व में विलीन हो जाती है।

सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है। सूर्य ज्योतिर्मय परमात्मा का प्रतीक है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि सूर्य के मार्ग से गये हुए लोग पुनरावर्तन को नहीं प्राप्त होते। यही महर्षि पतंजलि भी कहना चाहते हैं कि चिन्तन जब परमात्मोन्मुखी हो जाता है तो '**भुवनज्ञानम्**'- भुवनों का ज्ञान हो जाता है। किस भुवन में हमारा कहाँ लगाव है? भूत कितना, दैव कितना, आत्मा का आधिपत्य कितना है?-इन सबका ज्ञान हो जाता है। और कदाचित् वह सूर्यस्तर का संयम नहीं है तब? इस पर कहते हैं-

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्।।२७।।

चन्द्रमा में संयम करने से तारों की संरचना का ज्ञान हो जाता है।

यह जगत् ही एक रात्रि है। **'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।' (गीता, २/६९)** जगत्रूपी रात्रि में सब सोये हैं। इसमें संयमी पुरुष जाग जाता है। इस जगत् रूपी रात्रि में जब उन्हें परमात्मा का क्षीण प्रकाश मिलने लगता है तो **'ताराव्यूहज्ञानम्'**-तारों की स्थिति का ज्ञान हो जाता है कि चित्तवृत्ति के तार, सूत्र, इनकी गति कहाँ-कहाँ है? ग्रन्थि कहाँ-कहाँ पड़ी हुई है? इसके व्यूह का ज्ञान हो जाता है।

अब देखें साधना में स्थिर ठहरने का परिणाम-

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्।।२८।।

ध्रुवतारे में संयम स्थिर करने से तारों की गति का ज्ञान होता है।

स्तम्भवृत्ति की परिपक्व अवस्था में जब सुरत अचल स्थिर ठहर गयी **'तद्गति ज्ञानम्'**-उन तारों की गति का ज्ञान हो जाता है कि चित्तवृत्ति का वेग कैसा है। कभी चित्त अचल ठहरने लगता है, कभी उद्वेग आता है। कब कैसा चिन्तन उभरने वाला है, उभरने से पूर्व ही उसका ज्ञान हो जाता है इसलिए उद्वेग आने से पूर्व ही शान्त हो जाता है। यह सब चिदाकाश में ही होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्।।२९।।

संयम से नाभिचक्र की पकड़ आ जाती है तो **'कायव्यूहज्ञानम्'**-शरीर की स्थिति का पूरा-पूरा ज्ञान हो जाता है।

नाभि केन्द्र का प्रतीक है। वृत्ति सिमटकर जब अपने उद्गम में स्थित हो जाती है तो **'कायव्यूहज्ञानम्'**-पुनः-पुनः काया-निर्माण के क्या कारण हैं, कितने शरीर और पाने हैं?- इसका ज्ञान हो जाता है। बुद्ध को पिछले कई सौ जन्मों का ज्ञान हो गया था। गुरु महाराज को दिखायी पड़ा कि वे गत सात जन्मों से साधु थे। जड़भरत को मृग-योनि में भी ज्ञान था। काकभुशुण्डि को हजारों जन्मों का ज्ञान था। संयम इस स्तर पर पहुँचते ही ज्ञान हो जाता है कि शरीरों का क्रम (तारतम्य) कहाँ तक है, कैसा है?

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः।।३०।।

कंठकूप में संयम करने से भूख और प्यास की निवृत्ति हो जाती है।

जब कण्ठ पर केवल परमात्मा का ही नाम रह जाता है, परमात्मा की स्मृति सदैव कण्ठ पर रहती है तो समस्त आशा, तृष्णा और वासनाओं की भूख-प्यास तिरोहित हो जाती है। श्रीरामचरितमानस में प्रकरण आता है कि भगवान राम विश्वामित्र आश्रम पहुँचे तो महर्षि ने उन्हें अधिकारी के रूप में पहचाना और उन्हें विद्या प्रदान की। **'जाते लाग न छुधा पिपासा। अतुलित बल तनु तेज प्रकासा।।'** (१/२०८/८)-मंत्र तो वे इतना प्रभावशाली जानते थे किन्तु इसी मंत्र-ग्रहण के अनन्तर जब वे जनकपुर पहुँचे, वहाँ राम जी तो मुख्य अतिथि ही ठहरे, वहाँ तो छप्पनों प्रकार के व्यंजन चल रहे थे। रहे गुरुदेव विश्वामित्र जी! वह भी **'करि भोजनु मुनिबर बिज्ञानी। लगे कहन कछु कथा पुरानी।।'** (१/२३६/५)-पहले विधिवत् भोजन किया तत्पश्चात् पुरातन कथा कहने लगे। मन्त्र का प्रभाव दिखायी नहीं देता, जहाँ भूख-प्यास न लगे।

वस्तुतः यह है रामचरितमानस। राम के वे चरित्र, जो मन में प्रवाहित हैं। इसमें हैं विज्ञानरूपी राम और विश्वासरूपी विश्वामित्र। विज्ञान, बिना तार का ज्ञान अर्थात् अनुभव। विश्वास जब अनुभव से संयुक्त हो जाता है तो विद्या ब्रह्मतत्व को विदित करानेवाली हो जाती है। अतुलनीय शक्ति है परमात्मा, साधक उससे संयुक्त हो जाता है फिर उसे किसी प्रकार की आकांक्षा-पिपासा नहीं रहती, वह सदा-सदा के लिए तृप्त हो जाता है।

परमात्मा में सुरत लगते ही भूख-प्यास का भान समाप्त हो जाता है। यही कारण था कि महाराज जी के साधनकाल में दो-तीन दिनों का उपवास एक सामान्य घटना थी। सात उपवास, चौदह उपवास करने पर भी महाराज जी के चेहरे पर थकान के लक्षण नहीं होते थे। चौदह उपवास के पश्चात् शरीर में गर्मी की अधिकता से लघुशंका के साथ रक्त-जैसा कुछ देखकर पूज्यश्री ने भगवान को भी कुछ खरी-खोटी सुना दिया कि इष्टदेव बने बैठे हो! घोर जंगल में लाकर बिठा दिया, जहाँ न कुछ खाने को है न पीने को! अभी तो रक्त ही निकल रहा है, दो-चार दिन में शरीर भी छूट जायेगा। जब शरीर ही नहीं रहेगा तो भजन कौन करेगा! उस दिन भगवान ने कहा, "ठीक है, खाना ही चाहते हो तो कल से खाओ।" दूसरे दिन से भोजन की अयाचित व्यवस्था

चल निकली किन्तु महाराज जी विचार करने लगे कि भगवान ने रुखे शब्दों में ऐसा क्यों कहा कि खाना ही चाहते हो तो कल से खाओ। भगवान चाहते क्या थे? भगवान से उत्तर मिला, ''यदि इक्कीस दिनों तक अन्न ग्रहण न करते तो जीवनपर्यन्त भोजन करने की आवश्यकता ही न रहती। इसी प्रकार बैठे रहते, चेहरे पर शिकन तक न आती।'' तात्पर्य यह है कि जब संयम कण्ठकूप में पहुँच जाती है तब साधक में भूख-प्यास सहन करने की क्षमता आ जाती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्।।३१।।

कूर्म नाड़ी में संयम सधने से स्थिरता आती है।

आयुर्वेद शास्त्र में प्राण की संवाहिका मुख्य नाड़ी को 'कूर्म नाड़ी' संज्ञा से अभिहित किया गया है। प्राणवायु में व्यक्ति केवल श्वास ही नहीं ग्रहण करता अपितु उसी के साथ वायुमण्डल के संकल्प भी ग्रहण कर लेता है। श्वास के साथ आनेवाले संकल्पों पर संयम करने से योगी संकल्पों से परे हो जाता है, पुनः संकल्प उसमें विक्षोभ उत्पन्न नहीं कर पाते जिससे चिन्तन धारावाही होने लगता है। महर्षि ने नाम से तादात्म्य स्थापित करते हुए यहाँ कूर्म का दृष्टान्त दिया है। किंचित् आहट पाते ही कछुआ अपनी ग्रीवा, पाँव इत्यादि अंगों को सुरक्षित आवरण में समेट लेता है, इसी प्रकार साधक विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को अंतर्मुखी कर लेते हैं।

गीता में भगवान श्रीकृष्ण भी कूर्म का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं–

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। (गीता, २/५८)

जिस प्रकार कच्छप अपने अंगों को समेट लेता है, ठीक वैसे ही यह पुरुष जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को समेट लेता है तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है। खतरे का भान मिटते ही कछुआ अपने अंगों को पुनः फैला लेता है– क्या इसी प्रकार स्थितप्रज्ञ महापुरुष पुनः विषयों में अनुरक्त हो जाता है? इसका समाधान भगवान इस प्रकार करते हैं–

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते।। (गीता, २/५९)

इन्द्रियों द्वारा विषयों को न ग्रहण करनेवाले पुरुषों के विषय तो निवृत्त हो जाते हैं; क्योंकि वे ग्रहण ही नहीं करते, किन्तु विषयों के प्रति उनका राग निवृत्त नहीं होता। ऐसे योगी का वह राग भी '**परं दृष्ट्वा**'-परमतत्त्व परमात्मा का साक्षात् कर निवृत्त हो जाता है। कूर्म नाड़ी में संयम से महर्षि पतंजलि का भी यही अभिप्राय है।

मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्।।३२।।

मूर्धा की ज्योति में संयम होने से सिद्ध पुरुषों के दर्शन होते हैं।

मूर्धा मस्तिष्क या मस्तक को कहते हैं, जहाँ से संकल्प-विकल्प जागृत होते हैं। उसमें संयम भली प्रकार सध जाने पर '**सिद्धदर्शनम्**'-सम्पूर्ण सिद्धों का दर्शन हो जाता है कि इन सिद्धों का सिद्धत्व क्या है? उन सब में जो परमतत्त्व का संचार है उस परमात्मा का विदित हो जाना, सध जाना ही सर्वोपरि सिद्धि है।

गीता में भी इस संयम की चर्चा है-

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।। (गीता, ८/१२)

सब इन्द्रियों के दरवाजों को रोककर अर्थात् इन्द्रियों को वासनाओं से समेटकर, मन को हृदय में स्थिर कर, प्राण अर्थात् अंतःकरण के व्यापार को '**मूर्ध्न्याधाय**'-मस्तिष्क में ही निरोध कर, 'ॐ' इतना ही जो अक्षय ब्रह्म का परिचायक है, उसका जप तथा मेरा स्मरण (ध्यान) करता हुआ जो '**त्यजन्देहं**'-देहाध्यास का त्याग कर जाता है, वह परमगति को प्राप्त होता है।

महर्षि पतंजलि का भी अभिप्राय यही है कि मूर्धा में स्थित ज्योति में संयम करने से सिद्धपुरुषों के दर्शन हो जाते हैं। अर्थात् नैष्ठिकीम् सिद्धि परमतत्त्व परमात्मा का विदित होना है। उसके मार्ग में आनेवाली छोटी-बड़ी सिद्धियों का स्तर भी वह पार कर जाता है।

प्रातिभाद्वा सर्वम्।।३३।।

प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने से बिना संयम के ही योगी को समस्त बातें ज्ञात हो जाती हैं।

परमात्मा के निर्देशन से संचालित ज्ञान प्रातिभ है। प्रातिभ ज्ञान हो जाने से बिना किसी प्रयास सहज बैठे-बैठे सब कुछ जानकारी हो जाती है। व्यक्तियों के आने से पूर्व ही पूज्य महाराज जी उनके बारे में बता दिया करते थे।

कभी-कभी महाराज जी स्वगत कथन करने लगते थे- "हूँ अब चले हैं। ससुराल से कूड़ा लेकर आ रहे हैं। इन्हें बैठने को दो, खाने को दो! हल दे, हलवाह दे, खोदने को पैना दे।" हम लोग सोचते, महाराज जी किसे खरी-खोटी सुना रहे हैं? कुछ ही समयोपरान्त चार-छः महात्मा दृष्टिगोचर हुए। महाराज जी ने कहा, "लगता है घर पर जुताई-बुवाई, धान की रोपाई इत्यादि कार्य समाप्त हो गया। अब धोती का पुँछल्ला छोड़कर उसे अचला बना लिया और चल पड़े तीर्थ करने।" कुछेक डाट सुनकर भाग जाते; किन्तु फिर भी यदि वे दर्शन करने आ जाते तो महाराज जी उनके लिए समस्त व्यवस्थाएँ प्रदान कर देते थे।

कभी-कभी महाराज जी को संकेत मिलता कि कोई अच्छे महात्मा आ रहे हैं। हम सब को सचेत कर वे निर्देश देते, "देखना! निकलने न पायें। कोई अच्छे महात्मा आ रहे हैं।" इतने में विक्षिप्त-सा कोई दृष्टिगोचर होते ही पूज्य श्री कहते- "यही हैं! इन्हें ससम्मान ले आओ, इनकी सेवा करो।" अपने समीप आसन देकर महाराज जी उनका कुशलक्षेम पूछते कि आजकल किधर विचरण हो रहा है? इस प्रकार परस्पर वार्तालाप में सत्संग के सूक्ष्म पहलुओं को सुनने का सौभाग्य हम सबको भी मिल जाता। महाराज जी को हर प्रकार की जानकारी वहाँ बैठे ही बैठे अहर्निश होती ही रहती थी। यह प्रातिभ ज्ञान का ही प्रभाव था।

हृदये चित्तसंवित्।।३४।।

हृदय में संयम होने से चित्त के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। उस समय चित्त का स्वरूप कितना सूक्ष्म, निर्मल या कितना विकृत है- इसकी स्पष्ट जानकारी हो जाती है। ऐसे चित्त में न किसी प्रकार का उद्वेग आता है न साधना में कोई परिवर्तन। इसलिये जो कुछ है, प्रत्यक्ष है।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्।।३५।।

सत्त्व अर्थात् बुद्धि में प्रसारित प्रकृति तथा पुरुष दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। उसका 'अविशेष प्रत्यय' अर्थात् एकता-सा होना भोग है, जीव के आवागमन का कारण है। परार्थ जो परम धन को उपलब्ध करानेवाली क्रमोन्नत योग-विधि है उसके द्वारा स्व-अर्थ (स्वार्थ) अर्थात् आत्मिक सम्पद् में संयम करने से पुरुष का ज्ञान हो जाता है। परम पुरुष केवल आत्मा है, उस विशुद्ध आत्मस्वरूप का दर्शन हो जाता है, उसकी विशेषताओं का ज्ञान हो जाता है।

भजन की विधि वही निर्धारित विधि है। अभ्यास करना है प्रणव का, ओम् का जप, मात्र सद्गुरु में श्रद्धा, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, अष्टाङ्ग योग का विधिवत् पालन, संयमस्वरूप की स्थितिपर्यन्त जितने भी साधन हैं उनका नाम परार्थ-विद्या है। इस परार्थ-साधन के द्वारा जो स्वार्थ को साध लेता है, स्वार्थ में संयम करने से '**पुरुषज्ञानम्**'-परम पुरुष परमात्मा का ज्ञान हो जाता है। अब द्रष्टा का अपने स्वरूप में स्थित होना ही शेष रहता है।

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते।।३६।।

उस स्वार्थ-संयम के सधते ही कई-एक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं; जैसे-

१. प्रातिभ- परमात्मा के निर्देशन से संचालित ज्ञान, जिससे योगी को बिना किसी प्रयास (संयम) के सहज बैठे-बैठे सब कुछ जानकारी होती रहती है।

२. श्रावण- योगी दूरस्थ ध्वनियों को भी सुन सकता है। उसकी श्रवणेन्द्रिय दिव्य हो जाती है। वह दिव्य ही सुनता है।

३. वेदन- योगी का स्पर्श-ज्ञान भी दिव्य हो जाता है।

४. आदर्श- उसे दिव्य रूप दर्शन करने की शक्ति आ जाती है।

५. आस्वाद- योगी ब्रह्म-पीयूष का पान करने लगता है। भौतिक रसों में उसे कोई स्वाद नहीं रह जाता।

६. वार्ता- 'वर्ति' शब्द में अण् प्रत्यय लगने से 'वार्त' शब्द बनता है। उसी का बहुवचन 'वार्ता' है। वर्ति सुगन्धयुक्त होता है। ऐसे योगी में भी दिव्य गन्ध अनुभव करने की शक्ति का आविर्भाव हो जाता है।

इन सिद्धियों के प्रादुर्भाव से योगी को उनमें अनुरक्त नहीं हो जाना चाहिए। उसकी दृष्टि मात्र लक्ष्य पर होनी चाहिए। सिद्धियाँ साधना को उत्साहित करती हैं। ये मार्ग में मिलनेवाली सुविधायें हैं। इनमें उलझकर साधक को अपना गन्तव्य नहीं भूलना चाहिए। इसीलिए महर्षि सतर्क करते हैं-

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः।।३७।।

उक्त छः प्रकार की सिद्धियाँ समाधि की सिद्धि में, कैवल्यप्राप्ति में विघ्न हैं, सम और आदि तत्त्व परमात्मा में प्रवेश के मार्ग में व्यवधान हैं। ये योगपथ की विभूतियाँ हैं, शोभास्वरूप होती हैं; किन्तु जिस साधक की दृष्टि लक्ष्य पर है वह इनकी ओर देखता भी नहीं। ये विभूतियाँ साधक में आती ही हैं, इन्हें प्रकट होना भी चाहिए, इससे साधक का उत्साहवर्धन होता है; किन्तु साधक इन्हीं को उपलब्धि मानकर इनके भोग में उलझ गया तो यही सिद्धियाँ कैवल्यप्राप्ति में उसी प्रकार बाधक हैं जितना काम-क्रोध, राग-द्वेष इत्यादि। अतः साधक की दृष्टि सदैव लक्ष्य पर होनी चाहिए। इसके साथ ही-

बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च
चित्तस्य परशरीरावेशः।।३८।।

बन्धन के कारणों (कर्म और तज्जनित संस्कारों) की शिथिलता से और '**प्रचारसंवेदनात्**'- चित्त की शान्त प्रवाहित अवस्था का ज्ञान होने से चित्त का दूसरे के शरीर में प्रवेश संभव है। ऐसे चित्त के द्वारा किसी के स्वरूप को पकड़ लें, उसके मन में उठनेवाले संकल्प-विकल्पों का ज्ञान हो जाता है। यह प्रयोग पूज्य गुरु महाराज प्रायः करते ही रहते थे। कोई अनुसुइया आश्रम में आता तो वे गुनगुनाते, '**काम रूप केहि कारन आया।**' वे ध्यान द्वारा तत्काल देख लेते थे और बता भी देते थे, "कपटी कहीं का! ऊपर से बक ध्यान लगाता है। पक्का ढोंगी!" यह जानकारी प्राप्त करना संयम का ही एक स्तर है। दूसरे के शरीर को चिंतन से पकड़कर ज्योंही धारण किया, ध्यान जमा, समाधि में सुरत सम हुई, संयम सधा, दूसरों का हालचाल पकड़ में आ जाता है।

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च।।३९।।

उदान वायु को जीत लेने से जल, कीचड़, कण्टकादि से योगी के शरीर का संयोग नहीं होता। उसकी गति ऊर्ध्व हो जाती है।

उदान वायु का क्षेत्र कण्ठ से शिर तक है, जो ऊपर की ओर गमन करती है। यह जीव को पाप-पुण्य कर्मों के अनुसार भली-बुरी योनियों में फेंकती है। इस क्षेत्र पर संयम सध जाने पर योगी संसार-समुद्र की विषय-वारि से निर्लिप्त रहता है। काम, क्रोधादि षड्विकारों के शूल उसे व्यथित नहीं कर पाते। उसकी गति प्रकृति की ओर अधोमुखी न होकर परमात्मा की ओर ऊर्ध्वरिता की हो जाती है।

एक स्थान पर सत्संग का आयोजन था। जैसा कि सत्संग में प्रायः होता है, श्रोताओं को नींद आ गयी। सत्संग करनेवाले महात्मा जी बोले- सत्संग में फूल बरसते हैं, खुशबू फैलती है। मधुर गन्ध से निद्रा आ जाती है। नाच-गाने में निद्रा नहीं आती; क्योंकि वहाँ काँटे बरसते हैं - कभी लोभ के, कभी राग के, कभी द्वेष के तो कभी वासना के। '**ते सब सूल नाम को जाना।**' ये शूल अनन्त हैं। महापुरुष में उनसे निर्लेप रहने की क्षमता आ जाती है।

'**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।**' गीता (५/१०) में भगवान कहते हैं कि जिस प्रकार कमल के पत्ते के ऊपर लाखों लहरें दिनभर में आती और जाती हैं किन्तु वह पत्र जल या कीचड़ से प्रभावित नहीं होता, इसी प्रकार महापुरुष पर इन विकारों का प्रभाव नहीं पड़ता।

समानजयाज्ज्वलनम्।।४०।।

समान वायु को संयम द्वारा जीत लेने से योगी का शरीर दीप्तिमान् हो जाता है। ज्योतिर्मय परमात्मा है, उस परमात्मा का तेज उस योगी में प्रस्फुटित हो जाता है।

समान वायु शरीर में हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त रहती है। चित्तवृत्ति एक वायुमण्डल है। जब संयम इसे सम प्रवाहित करने में सध जाय तो योगी भले-बुरे उद्वेगों से विचलित नहीं होता, ईश्वरीय तेज की दीप्ति उभर आती है।

पूज्य गुरु महाराज जी कहते थे, 'हो! मेरा शरीर काला-काला न जाने कैसा था, किन्तु जिस दिन से स्वरूप में स्थिति मिली यह शरीर ही बदल

गया।' **'अवधपुरी प्रभु आवत जानी। भई सकल सोभा कै खानी।।' (मानस, ७/२/१)** अवध यह शरीर है जिसमें अवध्य स्थिति का सूत्रपात है। इस मानव-तन में जब भगवान के प्रादुर्भाव का समय आता है तो यह शरीर सम्पूर्ण शोभा की खान हो जाया करता है। जीव-श्रेणीवाले स्वभाव तिरोहित हो जाते हैं, ईश्वरीय वायुमण्डल-उन प्रभु की विभूतियाँ उतर आती हैं। चित्त शान्त सम प्रवाहित हो जाता है। इस समता में संयम सध जाने पर चित्त में उद्वेग नहीं आते, **'ज्वलनम्'**-परमात्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का प्रभाव-प्रकाश उसमें उभर आता है। योगी का शरीर दीप्तिमान् हो उठता है।

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्।।४१।।

श्रोत्र अर्थात् कान और आकाश के सम्बन्ध में संयम कर लेने से योगी के श्रोत्र दिव्य हो जाते हैं।

संयम इतना उन्नत हो गया कि श्रोत्र आकाश से शब्द पकड़ने लायक हो गया, तब श्रोत्र दिव्य हो जाते हैं; अलौकिक वायुमण्डल को ग्रहण करने लायक हो जाते हैं। श्रोत्र केवल श्रवणेन्द्रिय का नाम नहीं है। बधिरत्व दोषवाले भी परमात्मा की प्राप्ति कर सकते हैं। जो प्रशक्ति कान को सुनने के लिए प्रेरित करती है उसमें दिव्यता का संचार हो जाता है। एक ऐसी अवस्था आ जाती है कि **'बिन बाजा झंकार उठे तहँ, समुझि पड़े जब ध्यान धरे।'** प्रकृति की कोई ध्वनि या संगीत-लहरी उस योगी को प्रभावित नहीं कर पाती। उसके श्रोत्र दिव्य क्षमता से संयुक्त हो जाते हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्।।४२।।

'कायाकाशयोः'- शरीर और आकाश के सम्बन्ध में संयम करने से **'लघुतूलसमापत्तेः'**-शरीर रूई के सदृश हल्का हो जाता है और आकाश में ही सदा चलने की शक्ति आ जाती है। सुरत आकाशवत् हो जाती है, धारावाहिक चलने लगती है। **'कोइ अवकास कि नभ बिनु पावइ।' (मानस, ७/८९/३)**-आकाश ऐसी वस्तु है जहाँ लोगों को शान्ति मिलती है। यह चिदाकाश और कायाकाश में संयम योगपथ में मिलनेवाली विभूतियाँ हैं। इस क्षमता के अनन्तर देहाध्यास मिट जाता है।

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।।४३।।

बाहर सृष्टि में जो कुछ दिखायी-सुनाई पड़ता है उसमें कल्पनारहित वृत्ति का प्रवाहित होना महाविदेहावस्था है। कुछ भी सामने पड़ जाय उसके प्रति संकल्प-विकल्प नहीं कि क्या है?-इस महाविदेहावस्था के आने से प्रकाश का आवरण क्षीण हो जाता है, द्रष्टा और साधक के बीच का आवरण क्षीण हो जाता है। आवरण था भला-बुरा ग्रहण करना, अब वह ग्रहण ही नहीं करता तो आवरण कहाँ से आयेगा? बुद्धि में आत्मा का प्रकाश जितनी मात्रा में हुआ है, आगे जितना शेष है, उसे समझने की बाधा अब समाप्त हो गयी।

गीता में भगवान कहते हैं-

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।। (५/२१)

बाह्य संसार के विषय-भोगों में अनासक्त पुरुष अन्तरात्मा के सुख को प्राप्त होता है। यही महर्षि पतंजलि कहते हैं कि उसके प्रकाश का आवरण समाप्त हो जाता है। बुद्धि में ईश्वरीय प्रकाश के आने में जो रुकावट थी, वह दूर हो जाती है।

अग्रेतर सूत्र में कहते हैं-

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः।।४४।।

स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व- इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से '**भूतजयः**'- समस्त भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

गीता में है, '**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**' (१८/६१) समस्त भूतों के हृदय में ईश्वर का निवास है। भूत का अर्थ है जीवित प्राणी। किन्तु जीवित प्राणियों का मूल कारणभूत पंचमहाभूत- आकाश, पृथ्वी, अग्नि, जल और वायु; इनकी पाँच तन्मात्राएँ- शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- यह भूतों का स्थूल स्वरूप है। जहाँ इनका दृश्य दिखायी पड़ा तो स्वरूप प्रकट हो गया। दृश्य देखा – वह स्थूल है। स्वरूप स्पष्ट होते ही उसकी सूक्ष्म अवस्थाएँ समझ में आ गयीं। उनका अन्वय, उन्हें अलग-अलग विश्लेषण करके देखना

होता है। अन्तिम अवस्था अर्थवत्त्व अर्थात् उसकी गुणवत्ता, प्रयोजनवत्ता है कि वस्तु सजातीय है या विजातीय। इसका जो स्वरूप प्रकट हुआ है, क्लेशों की ओर ले जानेवाला है – यह क्लिष्ट है। जब इस अवस्था का संयम हो जाता है, पंचभूतों का विश्लेषण करने की क्षमता आ जाती है तब भूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। यह संयम क्रम-क्रम से होता है। स्थूलरूप जब दिखाई पड़ा, कानों से सुन लिया, स्थूलरूप समक्ष आ गया; उसका स्वरूप कैसा, उसके अंतराल में गहराई कैसी, सूक्ष्मता क्या, विश्लेषण क्या, प्रयोजन क्या है?–उस प्रयोजन को समझा और समझकर जो लग गया तो सदैव स्वरूप की ओर ही बढ़ेगा। पंचभूतों पर विजय प्राप्त हो जाती है। इन भूतों से उत्पन्न इन्द्रियों की पकड़ में आनेवाला कोई भी दृश्य योगी को भटका नहीं सकता। इसके साथ ही एक विशेष लाभ होता है–

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्मानभिघातश्च।।४५।।

उस भूतजय से अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रकट हो जाना, कायसम्पत् की प्राप्ति और उन भूतों के धर्मों से बाधा न होना– यह तीन प्रकार की योग्यता आ जाती है। शास्त्रों में अणिमा, लघिमा, महिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व और ईशित्व अष्टसिद्धियाँ कही गयी हैं। अष्टधा मूल प्रकृति में अष्टसिद्धियों का संचार हो जाता है।

सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म वस्तुओं का ज्ञान 'अणिमा' है। महापुरुष का बालवत् स्वभाव 'लघिमा' है, जिसके सन्दर्भ में किसी भी सेवा को वह तुच्छ नहीं समझते। भगवान श्रीकृष्ण पत्तल उठाने लगे। भगवान बुद्ध अपने एक रुग्ण शिष्य को स्नान कराने लगे, दवा पिलाने लगे। पूज्य महाराज जी दर्द से छटपटाते एक शिष्य को पाँव से दबाने लगे। साधक ने संकुचित हो कहा, "महाराज! आप स्पर्श न करें", किन्तु आपने गर्दन से पाँव तक दो-चार बार दबाकर कहा, "देखो! अब ठीक हो जायेगा।" दर्द दूर भी हो गया। ईश्वर की 'महिमा' साधक में आ जाती है, उसकी महिमा प्रसारित होने लगती है।

संयम सध जाने पर दत्तात्रेय की महिमा का विस्तार होने लगा, भीड़ बढ़ने लगी, भजन-चिन्तन में व्यवधान होने लगा तो उन्होंने भगवान से निवेदन किया कि इतनी भीड़ पीछे क्यों पड़ी है। भगवान ने कहा, "आपके

हृदय में मैं आ गया हूँ, इसलिये लक्ष्मी जी आपकी सेवा करना चाहती हैं।'' 'गरिमा' के रूप में योगी की गौरवपूर्ण अवस्था आ जाती है। बिना रुकावट इच्छित पदार्थों की आपूर्ति 'प्राकाम्य' है। पूज्य गुरुदेव को मुंबई विचरणकाल में एक ठेले पर नारियल देख उसे खाने की इच्छा हुई किन्तु पैसे तो थे नहीं अतः आगे बढ़ गये। एक वृक्ष के नीचे बैठ गये। इतने में एक कौवा उसी ठेले से गरी का एक टुकड़ा उठाकर उसी वृक्ष पर आ बैठा। नारियल का टुकड़ा उससे छूटकर महाराज जी के समक्ष गिरा। भगवान से शकुन संकेत मिला। दाहिने पेट और दाहिने पैर में स्पन्दन होने लगा, जिसका आशय था कि लेकर खा लो। **'जो इच्छा करिहहु मन माहीं। हरि प्रसाद कछु दुर्लभ नाहीं।।' (मानस, ७/११३/४)** सब भावों पर स्वामिभाव 'ईशित्व' है, जैसा गीता में क्षत्रिय स्वभाव के वर्णन में आता है- **'दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।' (१८/४३)** इन्द्रियों और मन का सदैव वश में रहना 'वशित्व' कहलाता है।

'तद्धर्मानभिघातश्च'-उन भूतों के विषय शान्त हो गये हैं इसलिए अब धर्म में किसी प्रकार का व्यवधान नही होता। कायसम्पत् का स्वरूप सूत्रकार ने स्वयं प्रस्तुत किया है-

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्।।४६।।

रूप, लावण्य, बल और वज्र के समान गठन- ये शरीर की सम्पदायें हैं। संयम की इस ऊँचाई पर योगी में कान्ति और शारीरिक सौष्ठव आ जाता है। महापुरुष को निवृत्ति के पश्चात् रोग होते ही नहीं। ऐसे योगी किसी का रोग स्वयं स्वीकार कर लें तभी वे रुग्ण होते हैं अन्यथा कभी नहीं।

पूज्य महाराज जी के जीवन की एक घटना इसी तथ्य को उद्घाटित करती है। पूज्य गुरुदेव आसन पर बैठे थे। एक दिन एक पण्डित जी समीपवर्ती गाँव से आये, प्रणाम किया। उन पर दृष्टि पड़ते ही गुरु महाराज ने कहा, ''पाण्डेय! अच्छा हुआ आ गये। पूड़ी बनाओ।'' उसने कहा, ''महाराज! मैं तो मर रहा हूँ। मेरा तो हाथ ही नहीं उठ रहा है। पता नहीं क्या हो गया है हाथ में? दो दिन से नींद तक नहीं आयी।''

महाराज जी ने कहा, "हाथ इधर ला।" उन्होंने उसका हाथ पकड़कर दो-चार बार उसका हाथ दबाकर देखा और कहा- "विभूति खा लो। अब जाओ, बनाओ पूड़ी।" उसने पूड़ी बनाया, खा-खिला कर चला भी गया किन्तु महाराज जी के हाथ में दर्द होने लगा। नवें दिन तो न रात चैन पड़े न दिन। गर्म जल से सिंकाई करने से कुछ राहत होती थी। प्रतीत होता था मानो हड्डी से फोड़ा निकल रहा हो।

गुरुदेव ने भगवान से पूछा, "जब निवृत्ति हो गई, पाप हैं ही नहीं, तब यह मरणांतक पीड़ा क्यों?" भगवान ने बताया, 'बारह महीने उस पाण्डेय को कष्ट उठाना था। उसका रोग आपने ले लिया है तो बारह दिन तो झेलें।' महाराज ने कहा, "गणना करो, कितने दिनों से फोड़ा हुआ है?" शिष्यों ने बताया, आज नवाँ दिन है। महाराज ने कहा, "दस, ग्यारह और बारह! तीन दिन शेष हैं।" बारहवें दिन फोड़ा फट गया, दर्द समाप्त हो गया। ऐसी कई घटनाओं के पश्चात् कोई दुःखी आता भी तो महाराज जी उसका स्पर्श नहीं करते थे। केवल उस धूने की विभूति दिला देते थे। इतने से वह ठीक भी हो जाता था।

ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः।।४७।।

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय और अर्थवत्त्व-इन पाँचों अवस्थाओं में अलग-अलग संयम करने से मनसहित समस्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

इन्द्रियों का कार्य है ग्रहण करना। आँखों ने देख लिया, ग्रहण कर लिया। श्रवण करना कान का ग्रहण करना है। रसना को स्वाद का बोध उसका ग्रहण करना है। नासिका गन्ध ग्रहण करती है। ग्रहण से उन वस्तुओं का स्वरूप स्पष्ट होता है। अस्मिता उन वस्तुओं के भले-बुरे उपयोग का मिश्रण है। अन्वय में वस्तु का विश्लेषण तथा अर्थवत्त्व में वस्तु की प्रयोजनता का विचार किया जाता है कि यह क्लिष्ट है अथवा अक्लिष्ट। इस प्रकार विश्लेषण द्वारा साक्षात् कर लेने से इन्द्रियों पर विजय हो जाती है।

यही भाव रामचरितमानस की इन पंक्तियों में द्रष्टव्य है-

जड़ चेतन गुण दोषमय, बिस्व कीन्ह करतार।
सन्त हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार।। (१/६)

भरतु हंस रबिबंश तड़ागा।
जनमि कीन्ह गुन दोष बिभागा।। (२/२३२/३)

भरत जी में यह क्षमता थी। हनुमान जी में भी ऐसी क्षमता थी। वह समुद्र-लंघन कर रहे थे, मार्ग में सिहिंका नामक राक्षसी मिली। वह उनकी छाया पकड़कर अवरोध कर रही थी। हनुमान ने उसका कपट पहचान लिया। **'ताहि मारि मारुत सुत बीरा। बारिधि पार गयउ मतिधीरा।।' (मानस, ५/२/५)**–उसे मारकर वे आगे बढ़ गये। इस प्रकार विवेकपूर्वक संयम करने से इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है। साधक में जब सदा सचेत रहने की क्षमता आ जाती है तो इन्द्रियों पर विजय हो जाती है। ऐसी दशा में इन्द्रियाँ विकार उत्पन्न कर भटका नहीं सकतीं; क्योंकि इन्द्रियों की गतिविधि साधक पहचान चुका है, इसीलिए वे भटका नहीं सकतीं।

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च।।४८।।

उस इन्द्रियजय से **'मनोजवित्वम्'**- मन के सदृश गति, **'विकरणभावः'**- शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति और **'प्रधानजयः'**- प्रकृति पर अधिकार–ये तीनों योग्यताएँ आ जाती हैं।

इन्द्रियों पर विजय से **'मनोजवित्वम्'**-मन में ही साधना गतिशील हो जाती है। वह बाहर कुछ भी नहीं सोचता। जब गति मन में ही सिमट गई, तब शरीर का सम्बन्ध कट जाता है। यही बिना शरीर के विषयवस्तु को समझ लेना है।

वैष्णव सन्त नाभादास जी के गुरु ध्यान में बैठे थे। उनके किसी भक्त की नाव समुद्र में फँस गई। उसने गुरुदेव से रक्षा की पुकार लगायी। गुरुदेव परेशान थे कि कोई संकट में है। नाभा जी गुरुदेव के कक्ष के बाहर इस सेवा में थे कि कोई गुरुदेव के भजन में बाधा न पहुँचाये। नाभा जी बोले, "महाराज! नाव तूफान से बाहर हो गई। अब आप चिन्ता छोड़ें।" गुरुजी कक्ष से बाहर आ गये। बोले, "यह तो नाभि का हाल जान गया। हमारे अन्तर्मन का समाचार

इसे ज्ञात हो गया। आज से तुम्हारा नाम नाभा जी है। अब तुम्हारा एक ही ऋण शेष है, एक सौ आठ दाणों की माला मुझे पहनाओ।" नाभा जी आध्यात्मिक सन्त थे। उन्होंने सोचा, '**माला तो मन की भली।**' जो सन्त मन का निरोध कर चुके थे, ऐसे महापुरुषों का जीवन-चरित्र लिखकर उन्होंने गुरु जी को अर्पित किया, जो 'भक्तमाल' के नाम से प्रसिद्ध है। वे बिना शरीर के ही सब जान गये।

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।।४९।।

सत्य से संयुक्त बुद्धि और पुरुष अर्थात् चेतन आत्मा इन दोनों की भिन्नतामात्र का जिसे ज्ञान रहता है, सबीज समाधि को प्राप्त ऐसे योगी का सब भावों पर स्वामिभाव और सर्वज्ञभाव हो जाता है, सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है, वह सब कुछ जानने की योग्यतावाला हो जाता है। ऐसे योगी का केवल मनसहित इन्द्रियों या शरीर पर ही नहीं, बल्कि समस्त प्रकृति पर नियंत्रण हो जाता है। परमतत्त्व से केवल मिलना ही शेष है, किसी भी क्षण प्राप्ति हो सकती है। सर्वज्ञता और स्वामिभाव भी मार्ग की विभूतियाँ मात्र हैं, इनसे भी वैराग्य अपेक्षित है। इस पर देखें-

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्।।५०।।

इन सभी सिद्धियों के प्रति वैराग्य होने से दोषों के बीज का क्षय होने पर कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है। बुद्धि और पुरुष अर्थात् सेवक और स्वामी में लेशमात्र भिन्नता शेष है तो कहीं-न-कहीं राग है, बीज-दोष है, कहीं से तो ग्रस्त है- जब उसमें भी वैराग्य हो गया तहाँ दोष समाप्त हो गया। दोष-बीज का क्षय हो जाने पर वह कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है। ऐसी उन्नत अवस्था में भी लोक-संसर्ग के विघ्न आते हैं, उनसे बचने के लिए सावधान करते हैं-

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।।५१।।

योगी जिन भूमिकाओं में है, उन भूमियों की शक्तियाँ उसे प्रलोभित करने का प्रयास करती हैं। उन स्थानों के अधिकारियों द्वारा आदृत होने पर भी उसमें लगाव या घमंड नहीं करना चाहिए; क्योंकि उससे पुनः अनिष्ट

होना संभव है। जब योगी में सर्वज्ञतादि गुण आ जाते हैं, उस समय इन शक्तियों के अधिष्ठातृ देवता भोगों का सुख दिखाकर या योगी की प्रशंसा द्वारा उसे उलझाते हैं।

महाराज मनु जब भजन करने लगे, देवाधिदेव ब्रह्मा, विष्णु और शिव उनके पास आये, कहा– "वर माँगो!" **'बहु भाँति लोभाए' (मानस, १/१४४/३)** कुछ दे नहीं रहे थे बल्कि काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे षड्विकारों में लोभ का ही संवर्धन कर रहे थे; परन्तु परम धैर्यशाली मनु विचलित नहीं हुए। भगवान ने आकाशवाणी दी और मनु ने सर्वस्व प्राप्त कर लिया।

साधक को सावधान रहना चाहिए, उनके प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए। उन्हें अपने मन में बार-बार यह चिन्तन करना चाहिए कि जन्म-जन्मान्तरों से कर्मों का भोग करते-करते मनुष्य-शरीर बड़े सौभाग्य से मिला है। ईश्वर की परम दया से योग-पथ में सफलताएँ मिल रही हैं। ये भोग क्षणभंगुर हैं। सदैव के लिए ये भी नहीं मिलेंगे। साधन-मार्ग से च्युत होते ही यह भी तिरोहित हो जायेंगे। उनमें दुःखों का स्वरूप ही देखना चाहिए। स्मय अर्थात् आत्म-प्रशंसा का भाव भी नहीं होना चाहिए कि अब तो राजपुरुष मेरा चरण धोते हैं, देवता भी सत्कार करते हैं- मैं ऐसी उच्चस्थिति को प्राप्त हो गया हूँ! भोगों में आसक्ति या अपनी स्थिति का अहंकार दोनों ही दशाओं में पुनः अनिष्ट होने की सम्भावना है।

कैवल्य के लिए विवेक-ज्ञान की आवश्यकता होती है–

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्।।५२।।

क्षण और उसके क्रम में संयम करने से विवेकजन्य ज्ञान उत्पन्न होता है।

क्षण के पश्चात् दूसरे क्षण का जो क्रम है उसके बीच में दो क्षणों के अन्तराल में अन्य संकल्प न उठें। श्वास आई तब ओम्, गई तब ओम्- इसका क्रम न टूटे, विघ्न न आयें। जब क्षण और उसके क्रम में संयम सध जाता है, विवेकजनित ज्ञान प्राप्त हो जाता है। देवता, स्वर्गिक भोगों के प्रलोभन और

शक्तियों के अहं से बचने के लिए क्षण-अनुक्षण का संयम रखना चाहिए, उसमें इतर संकल्पों का प्रवेश नहीं होने देना चाहिए।

इस विवेक-ज्ञान से लाभ?-

जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात् तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः।। ५३।।

जाति, लक्षण और देश से भेद का निश्चय न होने से दो तुल्य वस्तुओं का निश्चय उस विवेक-ज्ञान से होता है।

विवेक-ज्ञान से उत्पन्न अवस्था में जाति, लक्षण और देश-भेद से भी परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। चित्तवृत्ति का एक प्रकार से दूसरी अवस्था में परिवर्तित हो जाना जाति-परिवर्तन है। ऐसे क्रमिक परिवर्तनों के माध्यम से साधक लक्ष्यपर्यन्त दूरी तय करता है। ऐसी कुछ अवस्थाओं के अनंतर शरीर का निधन हो गया- ऐसा साधक जन्म लेता है। यह भी एक जाति-परिवर्तन है। किन्तु विवेक-ज्ञान के पश्चात् जाति-भेद, उसके अनुरूप लक्षण और देश-परिवर्तन से भी विवेक-ज्ञान में कमी नहीं आती। उस विवेक-ज्ञान की विशेषता कहते हैं कि वह उद्धार करनेवाला होता है-

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्।। ५४।।

यह विवेकज ज्ञान संसार-समुद्र से तारनेवाला, सबको जाननेवाला, सब प्रकार से जाननेवाला तथा बिना किसी पूर्वपरम्परा या सहयोग के जाननेवाला होता है।

इसके पश्चात् अवस्था आती है कैवल्य की-

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्।।५५।।

जब चित्त और पुरुष इन दोनों की समान रूप से शुद्धि हो जाती है, दोनों समत्व में स्थित हो जाते हैं तब कैवल्य होता है।

इसी अध्याय के उनचासवें सूत्र में इसका उल्लेख हुआ है। बुद्धि और पुरुष में किंचित् अन्तर था, अन्तरमात्र का ही भान था; जब इन दोनों की ऐसी शुद्धि हो गयी कि दोनों समान हो गये - न सत्य-परायण बुद्धि अलग है न पुरुष; तब वही कैवल्य है।

यही श्रीमद्भगवद्गीता में है-

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।। (५/१९)

उन पुरुषों द्वारा जीवित अवस्था में ही संपूर्ण संसार जीत लिया गया जिनका मन समत्व में स्थित है, क्योंकि वह ब्रह्म निर्दोष और सम है, इधर उनका मन भी निर्दोष और सम स्थितिवाला हो गया- '**तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः**'-इसलिए वह ब्रह्म में स्थित हो जाता है। इसी का नाम अपुनरावर्ती परमगति है।

इन्द्रियों और मन पर भली प्रकार विजय कर लेने पर भी बुद्धि और पुरुष में किंचित् अन्तर रहता है। उस समय सर्वज्ञता, स्वामिभाव इत्यादि उपलब्धियाँ रहती हैं। बुद्धि और पुरुष इन दोनों के ही अत्यन्त शुद्ध हो जाने पर साम्य अवस्था आ जाती है। दोनों को भिन्न किया नहीं जा सकता। बुद्धि के स्थान पर पुरुष खड़ा है, बुद्धि पुरुष में समाहित है-इसी का नाम कैवल्य है।

इस प्रकार इस तृतीय अध्याय में क्रम से संयम के उत्कर्ष के साथ मिलनेवाली विविध सिद्धियों का वर्णन है जिन्हें विभूति कहा गया, इसीलिए इस अध्याय का नाम विभूतिपाद है। इन सबका अंतिम लक्ष्य 'कैवल्य' है। कैवल्य की चर्चा प्रथम अध्याय में भी है। यहाँ कैवल्य का विस्तार से वर्णन किया गया; किन्तु यह भी जानना आवश्यक है कि किन परिस्थितियों को पार करके साधक को यह स्थिति मिली है। इस प्रकार यहाँ तीसरा पाद समाप्त होता है। अस्तु, अग्रेतर पाद है कैवल्य।

निष्कर्ष-

अष्टांग योग-साधना के तीन अंग- धारणा, ध्यान और समाधि विभूतिपाद के अंग हैं; क्योंकि इनमें स्थिति के साथ ही योग की विभूतियों का प्रस्फुटन होने लगता है। धारणा में ध्येय के आते ही ध्यान के रूप में वृत्ति एकतार चलने लगती है, लक्ष्यमात्र का आभास रह जाता है। इस प्रकार समाधि की अवस्था आ जाती है। '**त्रयमेकत्र संयमः।**' (३/४)-क्रमशः तीनों के सध

जाने का नाम संयम है। इस संयम के सधते ही विभूतियाँ मिलने लगती हैं। ये विभूतियाँ क्रम-क्रम से छोटी, बड़ी अवस्था के अनुसार मिलती जाती हैं। यह संयम एक बार सध गया तब सदा बना रहता है।

योगदर्शन के इस तृतीय पाद में धर्म का नाम पहली बार आया है। जहाँ वृत्तियों का निरोध, समाधि और एकाग्रता-परिणाम में संयम हो जाता है उसी संयम को धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम भी कहते हैं। चित्तवृत्ति का निरोध योग है और यहाँ निरोध-परिणाम सामने है तब धर्म शब्द का उच्चारण हुआ है। इसी पाद के सोलहवें सूत्र में है कि अतीत, वर्तमान और भविष्य में जो अनुगत है, एकरस शान्त प्रवाहित है, वह धर्म है। जो उस अनुगत को जानता है, वह धर्मी है। पैंतालीसवें सूत्र में पुनः धर्म का प्रयोग है। पंचभूत अर्थात् क्षिति, जल, पावक, गगन और समीर; इन पंचमहाभूतों की पंचतन्मात्राएँ रूप, रस, गन्ध, शब्द और स्पर्श – इन पर विजय से उनके कृत्य शान्त हो जाने पर धर्म में बाधा नहीं पड़ती; क्योंकि यही तो अवरोधक थे। जब यही शान्त हो गये तो धर्म निर्बाध होने लगता है। निरोध, समाधि एकाग्रता के ही पर्याय हैं।

धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणाम- इनमें संयम सधने से अतीत और वर्तमान का ज्ञान हो जाता है; किन्तु '**प्रातिभाद्वासर्वम्।**' (३/३४)-प्रातिभ अर्थात् परा में वृत्ति एकरस प्रवाहित है, ऐसे योगी को बिना किसी प्रयास, बिना किसी संयम के सब कुछ जानकारी मिलती रहती है। पूज्य गुरुदेव की दिनचर्या में ऐसे उदाहरण मिलते ही रहते थे। किसी आगन्तुक की भलाई-बुराई का विवरण उसके आने से पूर्व ही गुरु महाराज को ज्ञात हो जाता था। कभी अर्धरात्रि में महाराज जी अकस्मात् निद्रा से उठकर बैठ जाते थे, कहते थे, "देखो हो, कोई भयभीत चला आ रहा है।" तब तक कोई अवश्य ही आ जाया करता था।

शरीरस्थ वायु पाँच भागों में विभक्त है- प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान। प्रस्तुत पाद में उदान और समान इन दो के नाम आये हैं जो साधनोपयोगी हैं । उदान-जय से प्रकृति के कण्टकों से मुक्ति तथा ऊर्ध्वगति होती है और समान-जय से ज्योतिर्मय का प्रकाश मिलने लगता है।

'बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः।'- बाहर देखी और सुनी वस्तुओं में वृत्ति की कल्पनारहित अवस्था महाविदेहावस्था है। कैसा भी दृश्य दृष्टिगोचर हो जाय, कैसा भी शब्द सुनायी पड़े, न भला प्रभाव पड़े न बुरा, उससे लिप्त न हों- ऐसी विदेहावस्था के प्राप्त होने से प्रकाश का आवरण नष्ट हो जाता है। ज्योतिर्मय प्रकाशस्वरूप द्रष्टा है, उसके और साधक के बीच का पर्दा मिट जाता है।

भूतजय से अष्टसिद्धि, कायसम्पत् प्राप्त होती है। भूतजय से भूतों के विविध कृत्य शान्त हो जाते हैं, इसलिए धर्म में बाधा नहीं होती। बुद्धि सत्य से संयुक्त हो जाती है, परम चेतन पुरुष की अलग प्रतीति मात्र शेष रहती है। ऐसी सबीज समाधि में योगी का सब भावों पर स्वामिभाव और सर्वज्ञ ज्ञान हो जाता है। इस स्वामिभाव और सर्वज्ञ सिद्धि से भी वैराग्य होने से कैवल्य पद की प्राप्ति हो जाती है; किन्तु उस समय बड़े विघ्न आते हैं, देवताओं और लोकपालों के आमंत्रण आते हैं। यह भी योग-साधना का एक स्तरमात्र है, लक्ष्य नहीं। साधक को न तो उनके भोगों में राग होना चाहिए न अपनी स्थिति का अभिमान ही होना चाहिए। इससे पुनः पतन की आशंका अधिक रहती है।

इन उलझनों से बच जाने पर चित्त का एकतार चिन्तन में प्रवाहित होने पर क्षण-अनुक्षण के क्रम में संयम सध जाता है तब विवेक से उत्पन्न ज्ञान हो जाता है। श्वास आई तो 'ओम्', गई तो 'ओम्'; दूसरा विकल्प बीच में न पैदा हो- यह क्षण और अनुक्षण के क्रम में संयम का सधना है। अब एक भी क्षण चिन्तन के विपरीत व्यर्थ नहीं जाता। ऐसी अवस्था आने पर विवेक से उत्पन्न ज्ञान प्राप्त हो जाता है। यह विवेकजन्य ज्ञान संसार-समुद्र से तारनेवाला है, सबको सब प्रकार से जाननेवाला है।

सत्त्वसंयुक्त बुद्धि अर्थात् साधक और पुरुष भिन्न-भिन्न हैं-ऐसा आभास जब समत्व में स्थित हो जाय, ऐसी साम्यावस्था में कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। यह सब योगजन्य है, साधना अत्यन्त निर्मल होने पर है। योग-साधना द्वारा सहस्रों सिद्धियाँ सुलभ हैं। इन समस्त सिद्धियों में सर्वोच्च है कैवल्य, जिस पर महर्षि ने योगदर्शन के चतुर्थ पाद में सम्यक् विचार किया है।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

चतुर्थ अध्याय – कैवल्यपाद

महर्षि पतंजलिप्रणीत योगदर्शन का प्रथम पाद 'समाधिपाद' है। **'सम्यक् अधीयते मनः यस्मिन् स समाधिः'**– जिसमें मन भली प्रकार समाहित हो जाय वह समाधि है। सम और आदि तत्त्व के साथ समत्व की प्राप्ति समाधि है। चित्त का स्वरूप शून्य होना, ध्येयमात्र की प्रतीति समाधि है जिससे द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है, अभय पद की प्राप्ति हो जाती है। यह समाधि का महान् फल है।

जब किसी वस्तु का फल बता दिया जाता है तो उसमें रुचि उत्पन्न हो जाती है, तभी उसे प्राप्त करने के लिये इच्छुक प्रयत्नशील होता है। इसीलिये समाधिपाद का वर्णन सर्वप्रथम है। जब समझ में आ गया कि यही सत्य है, तब उसे साधने के लिये 'साधनपाद'; जिसमें अष्टाङ्ग योग, सम्पूर्ण योग-साधना की प्रस्तुति विस्तार से की गयी है। वैसे साधना सभी अध्यायों में उल्लिखित है। नाम, रूप, अभ्यास, वैराग्य इत्यादि साधनाएँ साधक की क्षमता के अनुरूप वर्णित हैं; किन्तु साधनपाद में साधना का रूप स्पष्ट हो जाता है।

तृतीय अध्याय 'विभूतिपाद' है। साधन से जब संयम सध जाता है, विभूतियाँ प्रकट होती हैं। विभूति अर्थात् ऐश्वर्य! योग से मिलनेवाले विविध ऐश्वर्य प्रकट होने लगते हैं। उदाहरणार्थ, भगवान शंकर के तन में निर्मल विभूति, अवढरदानी इत्यादि उल्लेख है। जैसे-जैसे संयम की अवस्था आती है उससे अष्टधा सिद्धियाँ प्रकट होने लगती हैं। सिद्धियाँ मार्ग में मिलनेवाली सुविधाएँ हैं। रास्ते में ये पड़ाव अवश्य पड़ने चाहिए; किन्तु साधक यदि इन्हीं में उलझ जाता है, लक्ष्य से स्खलित हो सकता है, इसीलिए परमसिद्धि कैवल्यपर्यन्त सतर्कता अपेक्षित है।

आदि शंकराचार्य जी के अनुसार, '**आब्रह्मस्तम्भपर्यन्त सर्वमायामयं जगत्। सत्यं सत्यं पुनर्सत्यं हरेर्नामैव केवलम्।।**'-विधाता और उससे उत्पन्न यावन्मात्र सृष्टि मरणधर्मा है। इसमें यदि कुछ सत्य है तो वह है हरि और हरि का नाम।

भगवान श्रीकृष्ण ने कहा कि आत्मा ही परम सत्य है, ज्योतिर्मय है। वह द्रष्टा है। उसे प्राप्त करने के लिये नियत विधि, नियत कर्म का अनुपालन है। इस कर्म को चार भागों में बाँटा, जो वर्ण कहलाते हैं। अपने स्वभाव में पायी जानेवाली क्षमता के अनुसार कर्म में लगा हुआ पुरुष परमसिद्धि को प्राप्त करता है। उसी को परम नैष्ठिकीम् सिद्धि कहा गया है। इसी को महर्षि पतंजलि कैवल्य कहते हैं।

भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं-

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।। (१८/४६)

जिन परमात्मा से यावन्मात्र जीव-जगत् की उत्पत्ति हुई है, जो तत्त्व रूप से सर्वत्र व्याप्त है, उस एक परमात्मा को '**स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य**'- स्वभाव से उत्पन्न कर्म की क्षमता के अनुसार अर्चन कर मनुष्य परमसिद्धि को प्राप्त होता है, जिसके पश्चात् कुछ भी पाना शेष नहीं रहता। यही परमसिद्धि है। इसी का नाम कैवल्य पद है। कैवल्य कैसा होता है? कब होता है? वह पद है क्या? इस पर देखें- कैवल्यपाद!

जन्मौषधिमंत्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।।१।

सिद्धि-प्राप्ति के दो माध्यम हैं- जन्म से होनेवाली सिद्धि और औषधि, मंत्र, तप तथा समाधिजन्य सिद्धि।

ईश्वरपथ में आरम्भ का नाश नहीं है। साधन समझकर यदि इस जन्म में चार कदम चलते बन गया तो अगले जन्म में पाँचवाँ कदम ही पड़ेगा। गीता में है- '**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।**' (६/४५) अनेक जन्मों के क्रम से साधक वहाँ पहुँच जाता है जिसका नाम परमगति है। कई जन्म भजन करते-करते जो प्राप्तिवाला जन्म है, वह मेरा स्वरूप है,

वह मुझमें निवास करता है। ऐसे महापुरुष जन्म ग्रहण करते ही उस शाश्वत पद को प्राप्त कर लेते हैं। उनके कैवल्य पद या परमसिद्धि प्राप्त करने में किसी साधना की आवश्यकता नहीं पड़ती।

उदाहरण के लिये; महाभारत, वनपर्व, द्वादश अध्याय में भगवान श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए अर्जुन ने कहा कि पिछले दस जन्मों से आप निरन्तर महापुरुष के रूप में थे। एक जन्म में आप 'यत्र सायं गृह मुनि' के रूप में लगातार भ्रमण करते रहे। जहाँ शाम होती, वहीं रात्रि-निवास कर लेते थे। आयुपर्यन्त मौन धारण कर आप साधनरत रहे। एक कल्प अर्थात् एक जन्म में आप प्रभास क्षेत्र में क्षेत्रीय जनता को उपदेश देते हुए भ्रमण करते रहे। एक कल्प में पुष्कर तीर्थ में बारह वर्ष तक एक पैर पर खड़े होकर आपने यज्ञ किया। एक जन्म अर्थात् एक कल्प में आप बद्रिकाश्रम में ध्यानस्थ रहे। उस समय दो ऋषि साथ-साथ थे-एक नर और दूसरे नारायण! आप नारायण थे। स्तर उन्नत होने पर आप ही वामन और विष्णु कहलाये-ऐसा हमने व्यास जी से सुना है।

अस्तु, भगवान श्रीकृष्ण का भजन उनके पूर्वजन्म में ही सम्पन्न हो चुका था, केवल प्राप्ति ही शेष थी। ऐसे महापुरुष जन्म ग्रहण करते ही प्राप्ति कर लेते हैं। उनके पूर्णत्व में जन्म माध्यम है, साधन नहीं। भगवान की साधना में तीन दिन शेष था। वे बद्रिकाश्रम गये और तीन दिन ध्यानस्थ रहे। वे ब्राह्मवेला में दो-ढाई बजे रात्रि से ही परमात्मा के ध्यान में बैठते थे। वे पहले अपनी आँखों पर जल के छींटे मारते थे, तब ध्यान में बैठते थे। ध्यान में आप एकदम बेसुध हो जाया करते थे।

ध्रुव ने भगवान का दर्शन होने पर उनसे प्रश्न किया, "भगवन्! मुनि-जन जन्म-जन्मान्तरों तक यत्न करते हैं तब कहीं आपके दर्शन हो पाते हैं; परन्तु मुझे तो केवल छः महीनों में ही आपने दर्शन दे दिया! ऐसी अनुकम्पा क्यों?" प्रभु बोले, "वत्स! इधर देखो! (भगवान ने एक पहाड़ की ओर उँगली से संकेत किया। वहाँ अस्थि-पंजरों का पहाड़ था) ये तुम्हारे ही अस्थि-पंजर हैं। तुमने इतनी बार जन्म लिया, यहीं भजन किया, यहीं शरीर

छूटा। इस बार केवल छः महीने शेष थे, अतः जन्म के साथ ही तुम्हें उपलब्धि मिल गयी।"

महापुरुषों का ऐसा जन्म जन्मना सिद्धि के अन्तर्गत आता है। वे धारणा, ध्यान और समाधि की अवस्था से गुजर चुके होते हैं। ऐसा नहीं होता कि उन्होंने कभी भजन किया ही नहीं।

सिद्धि का एक माध्यम है औषधि। प्रकृति में विधाता और उससे उत्पन्न सृष्टि नश्वर है। गीता में है, '**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन।**' (८/१६) सृष्टि का रचयिता विधाता और उससे उत्पन्न यावन्मात्र जगत् परिवर्तनशील है, दुःखों की खानि क्षणभंगुर और नश्वर है! तो किसी मायिक वस्तु के प्रयोग से कैवल्य पद कैसे प्राप्त होगा?

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, "इस कर्म को किये बिना न पूर्व में कोई परमात्मा को प्राप्त कर सका है और न भविष्य में ही कोई प्राप्त कर सकेगा। जितने भी पूर्व महर्षि, मनीषी हुए हैं इसी नियत कर्म को करके हुए हैं। अर्जुन! कर्मों के परिणाम में ज्योतिर्मय आत्मा विदित है, आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उसके लिये कोई कर्तव्य शेष नहीं है, प्राप्त करने योग्य कुछ भी अप्राप्त नहीं है।" अतः इस साधन का अनुष्ठान किये बिना कोई परमात्मा को प्राप्त ही नहीं कर सकता, तब नश्वर वस्तु औषधि जड़ी-बूटी या कुछ भी प्रयोग करने से वह परमात्मा कैसे सिद्ध हो जायेगा?

वस्तुतः बाह्य जगत् में जिस प्रकार अनेकानेक शारीरिक रोग हैं उसी प्रकार कुछ मानसिक रोग अध्यात्म जगत् को प्रभावित करते हैं, जो बारम्बार अनन्त योनियों, गर्भवास की यातना तथा कीट-पतंगपर्यन्त उच्च या निम्न शरीर-धारण के कारण बनते हैं। इन्हीं को भवरोग कहा जाता है। रामचरितमानस (उत्तरकाण्ड) में संत शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन रोगों का परिचय देते हुए बताया कि इसका मूल मोह या अज्ञान है। '**मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।**' सम्पूर्ण व्याधियों का मूल मोह है, जिससे अनन्त शूलों की सृष्टि होती है। '**काम बात कफ लोभ अपारा। क्रोध पित्त नित छाती जारा।। प्रीति करहिं जौं तीनिउ**

भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।'–काम मानो वायु-विकार है, क्रोध पित्त है, कफ लोभ है। यदि तीनों का प्रकोप है तो सह-निपात अर्थात् मृत्यु की आसन्नता का दुःखद रोग उत्पन्न हो जाता है। '**अहंकार अति दुखद डमरुआ।'**–अहंकार अत्यन्त कष्टप्रद गाँठ का रोग है। तृष्णा, अनन्त वासनायें उदर-सम्बन्धी शूल हैं। बीस-पचीस रोगों का चित्रण कर उन्होंने अन्त में कहा– '**मानस रोग कछुक मैं गाए।**' मन के अनन्त रोगों में से मैंने कुछ का ही गायन किया है। '**हहिं सब के लखि बिरलेन्ह पाए।।' (७/१२०/२)** ये रोग प्रायः सभी को हैं, किन्तु विरला ही कोई इन्हें देख पाता है। '**जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी।।**' इन्हें जान लेने से ये कुछ कमजोर पड़ जाते हैं, कुछ क्षीण हो जाते हैं, पर नष्ट नहीं होते। इन रोगों की औषधियाँ भी बतायी जाती हैं– '**नेम धर्म आचार तप, ज्ञान जग्य जप दान। भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं, रोग जाहिं हरिजान।।' (७/१२१ ख)** नियम, धर्म, उत्तम आचरण, तप, ज्ञान, दान तथा अन्य भी करोड़ों औषधियाँ हैं; परन्तु हे गरुड़ जी! उन औषधियों से भी ये रोग नहीं जाते। इस भवरोग के नष्ट होने का एक ही उपाय है– '**राम कृपाँ नासहिं सब रोगा।'**– भगवान की कृपा से रोग समाप्त हो जाता है। '**जौं एहि भाँति बनै संयोगा।।'**–यदि इस प्रकार का संयोग बन जाय। किस प्रकार का संयोग? '**सदगुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न विषय कै आसा।।**' सद्गुरु वैद्य हैं, उनके वचन में विश्वास होना चाहिए। विषयों की कामना न करें, यही परहेज है। '**रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी।।'**–भगवान की भक्ति संजीवनी जड़ी है। श्रद्धापूरित बुद्धि ही दवा के साथ लिया जानेवाला अनुपान है। '**एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं।।'**–इस विधि से ये रोग अवश्य नष्ट हो जायँगे, अन्यथा करोड़ों यत्नों से भी ये जानेवाले नहीं हैं। इनका वास्तविक उपचार ईश्वर-भक्ति ही है। भक्ति का ऐसा प्रभाव है कि '**राम भगति मनि उर बस जाकें। दुख लवलेस न सपनेहुँ ताकें।। (७/११९ ख/९)**–स्वप्न में भी उसे रंचमात्र दुःख नहीं होता।

विभक्त का अर्थ है 'विभाजन' और भक्ति का तात्पर्य है 'जोड़ना'! नियम, धर्म, आचरण यह सभी भक्ति में भली प्रकार सम्पन्न हो जाते हैं; किन्तु यदि श्रद्धा और समर्पण नहीं है तो सब कुछ व्यर्थ हो जाता है। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं कि यदि श्रद्धा नहीं है तो तपा हुआ तप, किया हुआ कर्म, जपा हुआ जप सब व्यर्थ चला जाता है, मानो कुछ हुआ ही नहीं। अस्तु, सम्पूर्ण समर्पण का नाम भक्ति है। यह ईश्वर-प्रणिधान भवरोग की महौषधि है, जिसमें साधक को इष्ट के हाथ का यंत्र बनकर चलना होता है। औषधि से महर्षि पतंजलि का यही अभिप्राय है।

सिद्धि का एक माध्यम 'मंत्र' है। मनन करने से जो साधक की रक्षा करता है वह मंत्र है। मंत्र का उल्लेख इन महापुरुष ने स्वयं किया है- **'तस्य वाचकः प्रणवः।'** (१/२७), **'तज्जपः'** (१/२८)-उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव है, उसका जप करें। **'मन अंतर स मंत्र'**, जप करते-करते एक स्तर ऐसा आता है कि नाम मन को अपने अन्तराल में स्थान दे देता है। उस समय वह नाम मंत्र की संज्ञा प्राप्त कर लेता है। क्रमशः उन्नत अवस्था में, परावाणी के प्रवेशकाल में यह नाम मन को अपने अंतराल में समेट लेता है और ध्रुवसिद्धि प्रदान करनेवाला हो जाता है।

'तप' सिद्धि का एक आवश्यक उपकरण है। साधक इष्ट के प्रति समर्पित होता है, मंत्र जपता है किन्तु शरीर और इन्द्रियाँ साथ नहीं देतीं। कभी निद्रा घेर लेती है तो कभी आलस्य आ जाता है। अतः मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप तपाना तप है। टेक के साथ लगने का नाम तप है। **'कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः।'** (२/४३)-तपस्या से शरीर और इन्द्रियों के विकारों का अभाव हो जाता है। काय और इन्द्रियाँ सध जाती हैं।

अंततः 'समाधि' सिद्धि से संलग्न सोपान है जिसमें अर्थ अर्थात् लक्ष्यमात्र का आभास, चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाना और कैवल्य अनामय परमपद की प्राप्ति, उसमें स्थिति हो जाती है। सारांशतः भवरोग की औषधि भक्ति, उसके सहयोगी मंत्र और तप तथा क्रमशः समाधि द्वारा सिद्धि प्राप्त होती है। यह कैवल्य-प्राप्ति के उपकरण हैं। प्रश्न उठता है कि जन्म

क्या है? जन्म कैसे होता है? जन्म-परिवर्तन का क्या कारण है? इस पर प्रकाश डालते हैं–

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्।।२।।

'जात्यन्तरपरिणामः'- एक जन्म से दूसरे जन्म में बदल जाना जात्यन्तर-परिणाम है। यह प्रकृति के पूर्ण होने से होता है।

प्रकृति ने चित्त को बाँध रखा है। जिन विकारों से बाँध रखा है वे शान्त हो जायँ, आगेवाली उन्नत अवस्था पकड़ में आती जाय- चित्त का यही परिवर्तन जन्म-परिवर्तन है। इस उत्कर्ष के साथ यदि शरीर छूट गया तो उसी स्तर से जन्म होगा। पूर्व प्रकृति के शान्त होने और अग्रेतर उन्नत प्रकृति की जागृति जन्म-परिवर्तन है। चित्त की एक अवस्था से दूसरी अवस्था का परिवर्तन जन्म-परिवर्तन है।

आरम्भ में चित्तवृत्ति का धरातल मलिन होता है। साधना के आरम्भ में साधक अल्पज्ञ है। ऐसी अवस्थावाले साधक तत्त्वदर्शी महापुरुष की सेवा करें। सेवा, समर्पण, सान्निध्य और साधन-श्रवण के प्रभाव से भजन जागृत हो जाता है; हृदय से चिन्तन की विधि जागृत हो जाती है। वही अल्पज्ञ शूद्र श्रेणीवाला साधक वैश्य श्रेणी का हो जाता है। एक प्रकृति पूर्ण हुई और दूसरी जागृत हो गयी। यह एक जन्म-परिवर्तन हो गया।

इस विधि के अनुसार लगते ही साधक दैवी सम्पत्ति का अर्जन करने लगता है। क्रमशः स्वभाव में धैर्य, शौर्य, साहस, संघर्ष झेलने की क्षमता आने लगती है तो वही साधक क्षत्रिय है। उस क्षत्रिय श्रेणी से लगा हुआ साधक विकारों को समाप्त कर ले जाता है। धारणा, ध्यान, समाधि स्वभाव में ढल जाता है, ब्रह्म में विलय की योग्यता सहज स्वभाव बन जाता है। उस समय क्षत्रिय प्रकृतिपूर्ण है, एक उन्नत प्रकृति की जागृति हो गयी। अब वही साधक ब्राह्मण है।

चित्त का एक प्रकार की जीवनचर्या से दूसरे प्रकार में परिवर्तित हो जाना, पूर्व प्रकृति का शान्त हो जाना और उन्नत प्रकृति की जागृति यही जात्यन्तर-परिणाम है। उस साधक का दूसरा जन्म हो गया। अन्त में आत्मा

विदित हो आती है, आत्मस्थिति आ जाती है। उस समय सभी श्रेणियाँ समाप्त हो जाती हैं, प्रकृति समाप्त हो जाती है – न निकृष्ट प्रकृति है न प्रकृष्ट। इस उपलब्धि से पूर्व कदाचित् शरीर छूट जाता है तो पुनः शरीररूपी वस्त्र मिलेगा, उसी स्तर की साधना रहेगी। यही जन्म-परिवर्तन का रहस्य है। भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं-

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।(गीता,२/४५)

अर्जुन! वेद तीनों गुणों तक ही प्रकाश करते हैं। तू तीनों गुणों से ऊपर उठ! कैसे उठे? भगवान बतलाते हैं- नित्य सत्त्व परमात्मा के प्रति श्रद्धा स्थिर कर, योगक्षेम की चिन्ता न कर आत्मपरायण हो। ऐसा कर तू गुणों से ऊपर उठ जायेगा, वेदों की अधिकृत भूमि तीनों गुणों से आगे बढ़ जायेगा।

आगे बढ़ने से पायेगा क्या? वेदों से ऊपर उठकर किसने क्या पाया? इस पर भगवान कहते हैं-

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।। (गीता, २/४६)

सब ओर से परिपूर्ण स्वच्छ जलाशय के प्राप्त हो जाने पर गड्ढे-जैसे क्षुद्र जलाशय से मनुष्य का जितना प्रयोजन रह जाता है, अच्छी प्रकार ब्रह्म को जाननेवाले ब्राह्मण का वेदों से उतना ही प्रयोजन रह जाता है। उदाहरण के लिये, राजस्थान में टंकियों में एकत्र वर्षा-जल से आवश्यकता की पूर्ति होती है। वहीं गंगा की स्वच्छ धारा प्रवाहित हो जाय तो कोई उन कुण्डों का कितना प्रयोग करेगा? किन्तु वे जलाशय रहेंगे अवश्य! वेद पीछेवालों के मार्गदर्शन के लिये ही तो रहते हैं। जो वेदों से ऊपर उठता है, ब्रह्म को जानता है। जो ब्रह्म को जानता है वह ब्राह्मण होता है। अर्जुन! तू वेदों की परिधि से ऊपर उठ, ब्रह्म को जान, ब्राह्मण बन! यही है जात्यन्तर-परिणाम। अर्जुन था तो क्षत्रिय, उसे ब्राह्मण बनने का निर्देश हुआ।

ये क्रमोन्नत श्रेणियाँ हैं। एक प्रकार की प्रकृति ज्यों-ज्यों दबती है, दूसरी प्रकृति का उदय होने लगता है। चित्त पर तामसी प्रकृति का दबाव

हटना और दूसरी सात्त्विक प्रकृति का उत्तरोत्तर उत्कर्ष होना- यह जन्म-परिवर्तन है।

क्या उपर्युक्त पाँचों साधन (जन्म, औषधि, मंत्र, तप और समाधि) प्रकृति को घटा-बढ़ा देते हैं? इस पर महर्षि पतंजलि कहते हैं, नहीं!-

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्।।३।।

निमित्त में औषधि, मंत्र, तप, समाधि इत्यादि प्रकृतियों के नियामक या संचालक नहीं हैं। ये निमित्त ऐसे ही हैं जैसे क्षेत्रपाल किसान '**वरणभेदः**'-आवरण का भेदन कर देता है।

किसान खेत की सिंचाई करता है। नाली में कहीं रुकावट है, वह उस अवरोध को दूर कर देता है, पानी तो स्वतः चला आता है। इसी प्रकार जितनी मात्रा में साधक का संयम सधता जाता है उतनी प्रकृति हटती जाती है, प्रकृति का आवरण झीना होने लगता है, ज्योतिर्मय परमात्मा का सहज प्रकाश होता जाता है। साधक प्रकृति में परिवर्तन नहीं करता बल्कि विजातीय अवरोधकों को फसल में बाधक विजातीय वनस्पतियों की भाँति निर्मूल उच्छेद कर देता है- '**कृषी निरावहिं चतुर किसाना। जिमि बुध तजहिं मोह मद माना।।' (रामचरितमानस, ४/१४/८)**

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।।४।।

चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में नियुक्त होना निर्मित चित्त है। निर्मित चित्त '**अस्मितामात्रात्**'-अस्मिता तक ही है।

आत्मा और वृत्तियों का मिश्रण अस्मिता है। जब तक अस्मिता है, चित्त एक अवस्था से दूसरे में परिवर्तित या निर्मित होता रहेगा। जब यह मिश्रण समाप्त हो जाता है तो चित्त-निर्माण नहीं होता, चित्त ही समाप्त हो जाता है।

चित्त में अनेक प्रवृत्तियों का बहाव है, वह स्थिर कैसे हो?-

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्।।५।।

चित्तवृत्तियाँ अनन्त हैं। क्लिष्ट वृत्तियाँ लक्ष्य से भटकाती हैं, अक्लिष्ट वृत्तियाँ इष्ट से जोड़ती हैं। चित्त की अनेक प्रवृत्तियों को भेदकर उन्हें स्थिर

करनेवाला एक चित्त होता है- एक लक्ष्य के प्रति समर्पित चित्त होता है। निर्मित चित्तों के कार्य अनेक प्रकार के होते हैं फिर भी एक मूल चित्त ही उन सबका नियन्त्रक है, प्रेरक है, संचालक है।

साधना में शनैः-शनैः उत्कर्ष करनेवाले चित्त नष्ट हो सकते हैं; किन्तु ध्यान में समाहित चित्त नष्ट नहीं होता, इस पर प्रकाश डालते हैं-

तत्र ध्यानजमनाशयम्।।६।।

एक चित्त जो सभी प्रवृत्तियों को भेदकर इष्ट से जोड़ता, उसमें नियुक्त करता है उसमें भी ध्यानजनित चित्त '**अनाशयम्**'-वासना और संस्कारों से रहित होता है, वह कभी नष्ट नहीं होता।

पूज्य गुरुदेव महाराज जी कहते थे, "हम नष्ट होना भी चाहें तो भगवान हमें नष्ट होने ही नहीं देंगे।" सम्पूर्ण साधन सिमटकर ध्यान में परिवर्तित हो जाने पर अनाशय हो जाता है। प्रकृति में ऐसा कुछ भी नहीं जो उसे नष्ट कर दे। माया में ऐसा कोई उपद्रव नहीं जो उसे मिटा दे। ऐसे खतरे गुरु महाराज जी के समक्ष बार-बार आये; किन्तु भगवान् ने सँभाल लिया। अर्थात् इस अवस्थावाला योगी कर्म-संस्कारों से निर्विघ्न होता है।

अब ध्यान के पश्चात् की योग-स्थिति पर प्रकाश डालते हैं-

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्।।७।।

ध्यान के पश्चात् जो प्राप्तिवाला योगी है उसके लक्षण बताते हुए महर्षि कहते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं, अन्य सब के कर्म तीन प्रकार के होते हैं।

योगी के कर्म करने के न शुभ परिणाम निकलते हैं, न अशुभ संस्कार बनते हैं। भगवान श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- जो आत्मतृप्त है,आत्मस्थित है, जिसका योग पूर्ण है उस पुरुष को कर्म करने से न कोई लाभ है और न कर्म छोड़ देने से कोई क्षति; क्योंकि अब उसे कोई प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो पुकारेगा किसको? न ही उसके पीछे कोई विकार है, तो काटेगा किसे?

गीता (४/१३) में ही भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं, '**चातुवर्ण्यं मया सृष्टम्**'-चार वर्णों की रचना मैंने की। '**तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्य कर्तारमव्ययम्।**'-उसके कर्त्ता मुझ अव्यय आत्मा को अकर्त्ता ही जान। कर्म मुझे लिपायमान नहीं करते; क्योंकि कर्म के फल में मेरी स्पृहा नहीं है। इस नियत कर्म का फल परमात्मा है और वह मुझसे विलग नहीं है। आगे कुछ नहीं तो इच्छा किसकी होगी? यही महर्षि पतंजलि भी कहते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। उनके कर्म का न शुभ परिणाम होता है, न अशुभ।

योग-पथ वृत्तियों के संयम का है। कोई भी साधक, जो भगवान के निर्देशन में है, वह इस पथ को प्राप्त कर सकता है। कबीर पढ़े-लिखे नहीं थे; किन्तु जब उन्हें स्थिति प्राप्त हुई तो बोले, '**आँख न मूदूँ कान न रुँधू, काया कष्ट न धारों। उघरे नयना साहब देखूँ, सुन्दर रूप निहारों। सन्तो! सहज समाधि भली।**'

अन्य लोगों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं। गीता में भी है-

अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।। (१८/१२)

सकामी पुरुषों के कर्मों का अच्छा, बुरा और मिला हुआ ऐसा तीन प्रकार का फल मरने के पश्चात् भी होता है, जन्म-जन्मान्तरों तक मिलता है किन्तु '**संन्यासिनाम्**'- सर्वस्व का न्यास करनेवाले पूर्ण त्यागी पुरुषों के लिये कर्मों का फल किसी भी काल में नहीं होता अर्थात् योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं।

पुनः उसी सामान्यजनों के कर्म पर विस्तार से प्रकाश डालते हैं-

ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्।।८।।

उक्त तीन प्रकार के कर्मों से फलभोग के समय अनुकूल वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है। अर्थात् वासनायें उपयुक्त वातावरण और क्षेत्र पाने पर ही प्रकट होती हैं। जिस समय जिन वासनाओं के प्रकट होने का अवसर आता है उस समय केवल वे ही प्रकट होंगी, शेष सब संचित रहेंगी।

जो योगी नहीं हैं, अभी बाह्य स्तर पर हैं, उनके कर्मों का फल तीन प्रकार का होता है- सात्त्विक, राजस और तामस। यही है शुक्ल, कृष्ण और मिश्रित फल। वे भोग अवश्य मिलते हैं, उनमें कोई बाधा ही नहीं है; क्योंकि-

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं
स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।।९।।

जाति अर्थात् जन्म, देश अर्थात् किसी भी स्थान और काल अर्थात् समय- इन तीनों का व्यवधान रहने पर भी कर्म-संस्कारों में **'आनन्तर्यम्'**- व्यवधान नहीं पड़ता; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। स्मृति में वही उभरता है जो संस्कारों में होता है।

उस समय स्मृति भली प्रकार शुद्ध हो जाती है, जब इन संस्कारों का उभरना शान्त हो जाय। **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का।'** (१/४३) स्मृति उस समय पूर्ण रूप से शुद्ध हो जाती है जब चित्त का स्वरूप शून्य हो जाता है, ध्येय लक्ष्यमात्र का आभास रह जाता है। यह निर्वितर्क समाधि की अवस्था है, बीज विद्यमान है। जब भीतर कुछ संस्कार शेष ही नहीं है तो अब स्मृति में उभड़े भी क्या?

संस्कारों की गति अबाध है। यह जन्म-जन्मान्तरों में यत्र-तत्र-सर्वत्र कर्ता का अनुगमन करती है। काकभुशुण्डिजी को अनेक जन्म मिले, अनेक देशों में गये, काल-चक्र से गुजरे; किन्तु कोई व्यवधान नहीं पड़ा। **'कवनेउँ जन्म मिटिहि नहिं ग्याना। सुनहि सूद्र मम बचन प्रवाना।।'** (**मानस, ७/१०८ घ/८**) किसी जन्म में ज्ञान नहीं मिटा। यह अवश्यंभावी है-

तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्।।१०।।

'तासाम्'-उन स्मृतियों और संस्कारों की एकता अर्थात् कर्म-संस्कारों में व्यवधान न पड़ना **'अनादित्वम्'**-अनादि से है; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप है। वासनाओं का स्मृति पर उभरना अनादि है, आरम्भ से ही है। इसी के कारण प्राणियों में **'नित्यत्वात्'**- शाश्वत स्वरूप पाने की इच्छा नित्य बलवती होती रहती है। गीता में है-

प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।। (१३/१९)

प्रकृति और पुरुष दोनों को ही अनादि जान। सम्पूर्ण विकारों को भी त्रिगुणमयी प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान।

जिजीविषा, सुख-संसाधनों की तृष्णा के अन्त का उपाय?-

हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः।।११।।

हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन- इन चारों से संस्कारों का संग्रह होता है, जिससे वासना गतिशील होती है। इन चारों का अभाव होने से संस्कारों का भी अभाव हो जाता है।

वासना और तज्जनित संस्कारों का कारण अविद्यादि क्लेश, उनसे होनेवाले कर्म और साधनाजनित कर्म भी हैं। ये सब मिलकर भले अथवा बुरे संस्कार ही तो देते हैं। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है। ये चित्त के माध्यम से चलते हैं इसलिये इनका आश्रय चित्त है और जिसके द्वारा चलते हैं, जिसे धारण करनेवाले हैं वे शब्दादि विषय आलम्बन हैं। आलम्बन, उद्दीपन, अनुभाव, विभाव और संचारी भावों से रसों का उद्रेक होता है, जिससे चित्त द्रवीभूत होकर संस्कारों से संश्लिष्ट हो जाता है। उपर्युक्त चारों माध्यमों के अभाव से इन वासनाओं और संस्कारों का सर्वथा अभाव हो जाता है। इनके अभाव के साथ ही धर्म का उदय होता है। यहाँ महर्षि ने 'धर्म' शब्द का पुनः प्रयोग किया है-

अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।।१२।।

'धर्माणाम्'-धर्मों में **'अध्वभेदात्'**-काल का भेद होता है। इस कारण जो अतीत हो गये हैं- वासना इत्यादि; और जो **'अनागतम्'**-आनेवाले हैं, अभी प्रकट नहीं हुए हैं- स्वरूप की उपलब्धि - उनमें भी स्वरूप से धर्म विद्यमान रहता है।

धर्म में काल का भेद होता है। इस कारण से अविद्या, वासना, चित्तवृत्तियाँ इत्यादि जो अतीत हो गये हैं; भजन के द्वारा जो संस्कार कट चुके हैं और **'अनागत'**-जो प्रकट नहीं हुए हैं, आनेवाले हैं; स्थिति जो

मिलनी है, उनमें भी धर्म स्वरूप से विद्यमान रहता है। परम चेतन परमात्मा धर्म है। '**धरमु न दूसर सत्य समाना।**' (**मानस, २/९४/५**); '**सर्वधर्मान्परित्यज्य**' (**गीता, १८/६६**) अर्जुन! समस्त धर्मों की चिन्ता छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जा। एक ईश्वर की शरण ही धर्म है। किन्तु वे धर्म–

ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः।।१३।।

वे धर्म व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में गुणस्वरूप ही हैं। गुणों का जैसा सात्त्विक, राजस, तामस – उन्नत, मध्यम, मलिन प्रभाव रहता है वैसा ही इनका रूप है। जैसा कि प्रथम पाद के चौथे सूत्र में है- '**वृत्ति सारूप्यमितरत्र।**' जैसा वृत्ति का रूप है, वही आप हैं।

किन्तु जब तीनों गुणों का प्रभाव सम हो गया, तब इस पर कहते हैं–

परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्।।१४।।

किन्तु '**परिणाम एकत्वात्**'-परिणाम की एकता से वे न सात्त्विक, न राजस और न तामस ही हैं। इनका कार्य शान्त हो गया, तब '**वस्तुतत्त्वम्**' जो विषय-वस्तु है- योग, योगाभ्यास तत्त्वरूप में प्रकट हो जाता है अर्थात् सत्य वस्तु द्रष्टा आत्मा परमात्मा को विदित कराने, दर्शानेवाला हो जाता है।

भगवान श्रीकृष्ण ने इसी पर बल दिया– अर्जुन! इस कर्म (नियत कर्म) को किये बिना न कोई सृष्टि में प्राप्त कर सका है, न ही भविष्य में कोई प्राप्त कर सकेगा। जनकादि ऋषि इसी कर्म को करके नैष्कर्म्य-स्थिति को प्राप्त हुए थे; किन्तु अभ्यास इतना उन्नत हो गया कि कर्मों के परिणाम में आत्मा विदित है, आत्मतृप्त है, आत्मस्थित है, उस पुरुष के लिये किंचित् भी कर्तव्य शेष नहीं रहता, प्राप्त होने योग्य वस्तु अप्राप्य नहीं रहती। यही है वस्तु 'परम तत्त्व'। गुणों का कार्य समाप्त हो जाने पर वह वस्तुतत्त्व प्रकट हो जाता है।

वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।।१५।।

वस्तु यहाँ परमात्मा है। '**वस्तुसाम्ये**'-वस्तु की सम स्थिति में '**चित्तभेदात्**'-चित्त का भेद प्रत्यक्ष है। इसलिये '**तयोर्पन्थाः विभक्तः**'

चित्त और उसके द्वारा देखी जानेवाली वस्तु इन दोनों का मार्ग अलग-अलग है।

वस्तु पूर्ण है। चित्त उसमें विलीन हो जाता है। प्रकृति उस वस्तु में परिवर्तित हो जाती है। '**तयोर्पन्था: विभक्त:**'-इन दोनों का पथ अलग-अलग है। चित्त तीनों गुणों तक, प्रकृति तक ही कर्म करते हैं। वह द्रष्टा व्यापक है। पुनः उसी चित्त पर प्रकाश डालते हैं-

न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्।।१६।।

इसके अतिरिक्त वस्तु (वह परमात्मा) किसी एक चित्त के अधीन नहीं है; क्योंकि जब वह चित्त का विषय नहीं रहेगी, उस समय '**किं स्यात्**'-चित्त का क्या उपयोग रह जाता है? वह शान्त प्रवाहित रहता है। अतः वस्तु जब प्रमाणित हो जाती है तब चित्त का अलग से क्या काम? चित्त चेतन का ही प्रसारण केन्द्र बन जाता है।

तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्।।१७।।

चित्त उपरागापेक्षी है- अपने में वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने की अपेक्षावाला है, इसलिये उसके द्वारा वस्तु कभी ज्ञात तो कभी अज्ञात होती रहती है अर्थात् कभी ध्यान पकड़ में आता है, कभी नहीं आता। जितना भगवान का प्रतिबिम्ब आया, उतना देखता है; नहीं आया तो नहीं देखता। किन्तु भगवान सब जानते हैं। भगवान जितना बताते हैं, चित्त उतना ही जानता है।

सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभो: पुरुषस्यापरिणामित्वात्।।१८।।

उस चित्त का स्वामी पुरुष परिणामी नहीं है अर्थात् उसका कोई परिणाम नहीं निकलता, इसलिये चित्त की वृत्तियाँ सदा उसे ज्ञात रहती हैं।

'**तत्प्रभो:**'-उस चित्त का स्वामी एकरस है, इसलिये चित्त की वृत्तियों को वह सदैव जानता है कि कब कौन कहाँ पर हैं और उन्हें संचालित करता रहता है। चित्त जो जानता है, वह दृश्य के द्वारा है-

न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्।।१९।।

वह चित्त स्वप्रकाश- प्रकाशस्वरूप नहीं है; क्योंकि वह '**दृश्यत्वात्**'-दृश्य से है।

चित्त में जो प्रकाश दिखायी पड़ता है वह पुरुष के द्वारा प्रसारित दृश्य के द्वारा ही है। चित्त में स्वयं का कोई प्रकाश नहीं है, स्वाभास नहीं है। चित्त जो कुछ देख लेता है, चित्त में जो प्रकाश देखने में आता है, वह दृश्य के द्वारा ही है। यह दृश्य द्रष्टा-दृश्य-संयोग ही है जो हेयहेतु है। दृश्य वैसा है जो प्रकाश, क्रिया और स्थिति दिलाता है; जो इस आत्मा के लिये भोग, अपवर्ग, परम मुक्ति का सम्पादन करता है। यह पुरुष से संचालित है जिसे चित्त विदित है। चित्त में जो प्रकाश है वह इस दृश्य के द्वारा है अन्यथा मनुष्य अन्धा है। वृत्ति तो वृत्ति है- **'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई।।' (मानस, ३/१५/३)** इसलिये अपने से कोई कल्पना करता है तो माया है, अन्धकार है, उसमें प्रकाश कुछ भी नहीं है- जो कुछ है वह 'दृश्यत्वात्'। दृश्य का कार्य है- पुरुष के लिये भोग प्रदान करना। क्या ऐसे भोग मोक्ष में सहायक हैं? श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं- **'भोक्तारं यज्ञ तपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।।' (५/२९)** उन पुरुष का भोग है यज्ञ, तप और संयम। वह दृश्य मुक्ति का पूर्ण सम्पादन करनेवाला है। अस्तु, चित्त में जो प्रकाश है, दृश्य के द्वारा है।

एकसमये चोभयानवधारणम्।।२०।।

'उभय अनवधारणम्'- एक ही समय में चित्त और दृश्य-इन दोनों के स्वरूप का ज्ञान भी नहीं हो सकता; क्योंकि चित्त तो चित्त ही है। दृश्य जब भी आता है, स्वतंत्र ढंग से आता है। कब क्या प्रसारित होनेवाला है, उसे एक साथ ही नहीं जाना जा सकता। वह तो अनुभव में उभरने पर ही समझ में आता है।

चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च।।२१।।

'चित्तान्तरदृश्ये'-चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन दृश्य के माध्यम से होता है और **'बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः'**-बुद्धि में बौद्धिक विकास का जो अन्तरंग प्रसंग है वह भी दृश्य के द्वारा ही प्रकट होता है और **'स्मृतिसंकरश्च'**-स्मृति में इसका मिश्रण होता जाता है। स्मृति तभी पूर्ण होगी, जब भजन पूरा हो जायेगा। इसलिये पूर्व विचारों में साधनात्मक दृश्य का मिश्रण होता जाता है।

चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्।।२२।।

यद्यपि चेतन-शक्ति पुरुष क्रिया से रहित और असंग है फिर भी **'तदाकारापत्तौ'**-तदाकार स्थिति, एकाग्रता आ जाने पर उसे अपने चित्त का ज्ञान होता है। **'स्वबुद्धिसंवेदनम्'**-तदाकार हो जाने पर स्वरूप की स्थितिवाली बुद्धि हो जाती है, स्व-स्वरूप का बुद्धि में संवेदन चलने लगता है।

द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्।।२३।।

द्रष्टा और दृश्य- इन दोनों से रंगा हुआ चित्त **'सर्वार्थम्'**-सम्पूर्ण अर्थ- दैवी सम्पद् की प्राप्ति करा देनेवाला होता है; क्योंकि द्रष्टा-दृश्य का संयोग आत्मा, पुरुष के लिये मुक्ति का सम्पादन करनेवाला है। इसलिये द्रष्टा-दृश्य का संयोग 'सर्वार्थ'-सम्पूर्ण अर्थवाला, कैवल्य पद की उपलब्धि करानेवाला होता है। इसमें **'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः। अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।'** (गीता, २/१८) अविनाशी, अप्रमेय, नित्यस्वरूप आत्मा के ये सभी शरीर नाशवान् कहे गये हैं, इसलिये भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर। आत्मा ही अमृत है, आत्मा ही अविनाशी है, जिसका कि तीनों कालों में नाश नहीं होता। आत्मा ही सत्य है। **'द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्'** द्रष्टा जो चैतन्य है, निर्मल है और दृश्य-पुरुष के लिये भोग, अपवर्ग (मुक्ति) का साधन जुटाना जिसका प्रयोजन है; क्रिया, स्थिति प्रदान करना ही जिसका प्रयोजन है- इन दोनों से संचालित होकर चलनेवाला चित्त सब अर्थ वाला होता है, सम्पूर्ण अर्थ नैष्ठिकीम् सिद्धि प्रदान करनेवाला होता है। आगे कहते हैं-

तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्।।२४।।

वह चित्त असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी परार्थ अर्थात् परम अर्थ को सिद्ध करनेवाला होता है; क्योंकि वह समस्त वासनाओं को काटने वाला है। जिसका चित्त द्रष्टा और दृश्य के संयोग से रँगा है ऐसा योगी असंख्य वासनाओं से संसर्ग होने पर भी अपने लक्ष्य पर होता है। वासनाओं से वह लिपायमान नहीं होता। **'पद्मपत्रमिवाम्भसा'**-कीचड़ और जल से

निरन्तर धुलता हुआ कमल का पत्र उससे भींगता नहीं, स्वच्छ रहता है; उसी प्रकार ये महापुरुष भी निर्मल और अमल रहते हैं। उनके संसर्ग में जो आ जाता है उसका भी कल्याण हो जाता है। पूज्य गुरुदेव का निवास बर्बर दस्युओं एवं जंगली कोल-भीलों के मध्य था; किन्तु महाराज जी के साहचर्य से उन सबका हृदय-परिवर्तन हो गया, उनकी बर्बरता समाप्त हो गयी और वे भी भजन-चिन्तन में प्रवृत्त हो गये।

विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः।।२५।।

'**विशेषदर्शिनः**'-उस विशेषपुरुष का दर्शन करनेवाले योगी के चित्त में आत्मभाव नहीं रह जाता कि मैं योगी हूँ, समर्थ हूँ, आत्मवान् हूँ; क्योंकि वह जानता है कि कर्ता-धर्ता तो वह विशेषपुरुष ईश्वर है। देहाध्यास समाप्त हो जाता है। इस अवस्थावाले योगी के चित्त की स्थिति कैसी रहती है?-

तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्।।२६।।

उस समय योगी का चित्त विवेक की ओर झुका हुआ कैवल्य पद की ओर उन्मुख हो जाता है। विशेष-दर्शन के साथ आत्मश्लाघा की निवृत्ति तो हो जाती है किन्तु अभी दर्शन ही तो हुआ है, स्वरूप की स्थिति तो नहीं मिली, उस समय चित्त गंभीर रूप से विवेकवान् होता है, कैवल्य की ओर गमन कर जाता है। ऐसे चित्त से कोई शुभाशुभ निर्माण नहीं होता।

किन्तु उस चित्त में जो उद्वेग उठते हैं, वे क्या हैं?-इस पर कहते हैं-

तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।।२७।।

उस समाधिस्थ चित्त के अन्तराल में विपरीत वस्तुओं का स्फुरण पूर्व-संस्कारों से होता है। विवेक में झुका हुआ चित्त है अर्थात् सबीज समाधि की अवस्था है। '**तच्छिद्रेषु**'-उसके अन्तराल में जो विजातीय छिद्र हैं, दूसरे पदार्थों का ज्ञान है, वह पूर्वसंस्कारों से होता है। अभी संस्कार है, भले ही स्वल्प हैं, निरोध के संस्कार हैं लेकिन जीवित हैं। उसमें जो विरोधी भाव अन्तराल में उभरते हैं, संस्कार से होते हैं। नया कर्म-संग्रह तो होता नहीं, पूर्वसंस्कार से ही होते हैं। नया कुछ नहीं बनता।

हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।।२८।।

इन संस्कारों का क्लेशों की भाँति ही विनाश करने को कहा गया है। जितना हानिकारक क्लेश इत्यादि हैं, उतना ही ये भी हैं। इनका विनाश क्लेशों की ही भाँति करना आवश्यक है। अभ्यास में प्रमाद नहीं होना चाहिए। इन संस्कारों के उच्छेद के साथ ही धर्ममेघ समाधि है–

प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।।२९।।

जिस योगी का विवेक–ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका विवेक–ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है- जहाँ धर्म–ही–धर्म है, चिदाकाश में सर्वत्र धर्म ही छाया हुआ है। धर्म शाश्वत है, सनातन है, परम सत्य है; वह है क्लेश कर्मों से अतीत ईश्वर! सर्वत्र उसे उस द्रष्टा का संचार ही दिखाई देता है– **'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।'** **(ईशावास्योपनिषद्, १)**।

ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः।।३०।।

इस धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति के साथ ही क्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश और इनसे उत्पन्न कर्म–संस्कारों का सर्वथा नाश हो जाता है।

तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्।।३१।।

उस समय जिसके सभी आवरण और मल हट चुके होते हैं, ऐसा ज्ञान अनन्त सीमारहित हो जाता है, इस कारण **'ज्ञेयं अल्पम्'**- ज्ञेय पदार्थ परमात्मा और साधक के बीच अत्यन्त अल्प दूरी रह जाती है।

ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्।।३२।।

द्रष्टा की अनुभूति, तदनन्तर ज्ञेय की अनुभूति, अल्प दूरी जो शेष थी, वह भी पूर्ण हो गयी– इस प्रकार साधक जब कृतार्थ हो गया, अपना कार्य पूर्ण कर चुका– ऐसे पुरुष के समक्ष गुणों का प्रभाव, परिणाम–क्रम समाप्त हो जाता है। सत्, रज, तम तीन गुण हैं। ये उत्तम, मध्यम और निकृष्ट तीन प्रकार का प्रभाव डालते रहते हैं। इनका क्रम चलता रहता है। इस अवस्था

में यह क्रम सदा के लिये समाप्त हो जाता है अर्थात् वह योगी गुणों से अतीत हो जाता है।

उस समय साधना का क्रम कैसा रहता है?–

क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः।।३३।।

जो क्षणों का प्रतियोगी है और '**परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः**'– जिसका स्वरूप परिणाम के अन्त में समझ में आता है, वह क्रम है।

आरम्भिक साधक भजन में घण्टों बैठता है किन्तु कुछ ही मिनट भजन हो पाता है। कभी उन्नत अवस्था में घण्टों के मध्य कुछ मिनट ही व्यर्थ जाते हैं और संयम परिपक्व हो जाने पर श्वास आई तो ओम्, गई तो 'ओम्'– बीच में कोई भी श्वास आपकी जानकारी के बिना व्यर्थ नहीं जाने पाती तो आप क्षणों के प्रतियोगी हैं, अब हर क्षण पर आपका नियंत्रण है। साधना इस अवस्था में पहुँच जाती है कि एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाती, उस समय परिणाम-क्रम अन्तिम परिणामपर्यन्त निर्ग्राह्य हो जाता है, उसका कोई उपयोग ही नहीं रह जाता। अब क्षण-क्रम कुछ भी ग्रहण नहीं करते। इस परिणाम के साथ पुरुषार्थ पूर्ण हो जाता है।

पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।।३४।।

जिनका पुरुष के लिये कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा, अब साधना पूर्ण है, गुणों का अपने कारण में विलीन होने के साथ द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है।

गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना–'**चितिशक्तेः स्वरूपप्रतिष्ठा**' द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना '**कैवल्यम्**'– कैवल्य पद है। गुण और कुछ भी नया प्रसव नहीं करते, अपने कारण में लीन हो गये। यहाँ द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। यही कैवल्य पद है। साधना सम्पन्न हो गयी।

इस शास्त्र के आरम्भ में 'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' की जो प्रस्तावना थी, 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' की जो प्रस्थापना थी, उसी का यहाँ

समापन है कि द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो गया। यही कैवल्य-स्थिति है। इसी के साथ ही योगी शाश्वत जीवन, शाश्वत शान्ति और शाश्वत स्थिति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह कैवल्यपाद पूर्ण हुआ।

निष्कर्ष-

सिद्धियाँ अनन्त हैं। संसार से अलग कुछ विलक्षणता प्राप्त कर लेना सिद्धि कहलाती है। इन सिद्धियों में अष्ट सिद्धियों तथा अन्यान्य सिद्धियों का उल्लेख इस योगदर्शन के तृतीय पाद में है; किन्तु परमसिद्धि है- परमतत्त्व परमात्मा का विदित हो जाना, सध जाना। यह सिद्धि अनेक जन्म से साधन कर रहे साधक को साधना की परिपक्व अवस्था आने पर जन्म के साथ ही (भगवान श्रीकृष्ण की तरह) प्राप्त हो जाती है। साधन में अवस्था-भेद के अनुसार शेष साधकों को औषधि अर्थात् भक्ति [**'रघुपति भगति सजीवन मूरी।' (मानस, ७/१२१/७)**], मंत्र, तप और समाधि के द्वारा सफलता मिलती है।

पूर्वप्रकृति के पूर्ण हो जाने तथा अग्रेतर उन्नत प्रकृति के जागृत होने से जन्म-परिवर्तन हो जाता है। जिस प्रकृति ने चित्त को बाँध रखा है, वह प्रकृति शान्त हो गयी, उन्नत प्रकृति का प्रादुर्भाव हो गया- यही जन्म-परिवर्तन है। ऐसी अवस्था में यदि शरीर छूट गया तो उसी स्तर से जन्म होता है। जन्म, औषधि अर्थात् भक्ति, मंत्र, तप और समाधि- ये निमित्त हैं। इनके द्वारा प्रकृति का संचालन नहीं होता प्रत्युत् अवरोध दूर कर दिया जाता है, जिससे उन्नत प्रकृति स्वतः प्रसारित हो जाती है। इस प्रकार चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में परिवर्तन जात्यन्तर-परिणाम है, जाति-परिवर्तन है, जन्म-परिवर्तन है, एक रचना है। यह निर्माण चित्त जब तक अस्मिता है, तभी तक होता है। आत्मा और वृत्तियों का मिश्रण अस्मिता है। चित्त की अनेक प्रवृत्तियों को स्थिर करना, एक ईश्वर में समर्पित करना, एक ईश्वर में नियुक्त करना चित्त का कार्य है। इनमें से क्रमशः ध्यान की स्थिति मिल गयी तो ध्यानजनित चित्त का **'अनाशयम्'**-कभी विनाश नहीं होता; क्योंकि ऐसे योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। अन्य लोगों के कर्म तीन

प्रकार के होते हैं। वे सभी कर्म वासनाओं को ही जन्म देते हैं। अनन्त जन्म-परिवर्तन और काल का अन्तराल होने पर भी वे कर्म नियत समय पर प्रकट हो जाते हैं; क्योंकि स्मृति और संस्कार का एक ही स्वरूप है। स्मृति में वही उभरता है जो संस्कार की परत में होता है। इनकी एकता अनादिकाल से है इसलिये सदा '**नित्यत्वात्**'- 'नित्य स्वरूप पा जाऊँ'- यह भावना इसमें बनी रहती है। हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन- इन्हीं के द्वारा इन संस्कारों का, वासनाओं का सृजन होता है। इन चारों के अभाव के साथ ही वासनायें, ये संस्कार सदा के लिये मिट जाते हैं।

संस्कारों का हेतु अविद्या इत्यादि क्लेश हैं। फल पुनर्जन्म, आयु और भोग है। चित्त इनका आधार और विषय आलम्बन है। इनके अभाव के साथ ही ये संस्कार सदा के लिये मिट जाते हैं। इनके मिटते ही धर्म का नाम आया है जो काल का भेद होने पर भी हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन; जो अतीत हो गया, '**अनागत**'- जो अभी प्रकट नहीं हुआ है; जैसे- स्वरूप की प्राप्ति, स्थिति इत्यादि इन सब में धर्म '**स्वरूपतोऽस्ति**'-सदा स्वरूप से विद्यमान और प्रसारित रहता है। गुणों के अनुसार ये धर्म उत्तम, मध्यम और मलिन अवस्था में दिखायी देते हैं; किन्तु हैं स्थिर और प्रत्यक्ष। परिणाम की एकता में '**वस्तुतत्त्वम्**'- जो योग-साधना कर रहे थे, उससे उपलब्ध वस्तु चेतन द्रष्टा का तत्त्वरूप में विदित हो जाना सम्भव है। '**वस्तुसाम्ये चित्तम्**'- वस्तु की साम्य अवस्था में चित्त का भेद स्पष्ट हो जाता है कि चित्त का रास्ता अलग है और वस्तु इससे भिन्न सत्ता है। वस्तु है परमात्मा। यह चित्त इस वस्तु के प्रतिबिम्ब की अपेक्षावाला है। वस्तु का जितना प्रतिबिम्ब पड़ता है, उतना ही चित्त जानता है; अन्यथा नहीं जानता। किन्तु वह वस्तु द्रष्टा है अर्थात् परमात्मा है। उसे चित्तवृत्तियाँ सदैव ज्ञात रहती हैं। चित्त में जो प्रकाश दृष्टिगोचर होता है, वह द्रष्टा-दृश्य के द्वारा है। जितना चित्त में दृश्य प्रसारित होता है उतना ही चित्त जानता है, इसके आगे नहीं देखता।

यद्यपि वह चेतन-शक्ति क्रिया से रहित और असंग है तब भी तदाकार हो जाने पर '**स्वबुद्धिसंवेदनम्**'- बुद्धि में स्वरूप का संवेदन प्राप्त कर लेता है। वह संवेदन कैसे प्राप्त करता है? किसके द्वारा प्राप्त करता है?

इसके लिए महर्षि कहते हैं- द्रष्टा और दृश्य से रँगा हुआ चित्त '**सर्वार्थम्**'-सम्पूर्ण अर्थ को प्राप्त करानेवाला होता है। यही है अनुभव। द्रष्टा और दृश्य से रँगा होने पर ही चित्त '**परार्थम्**'-परमार्थिक अर्थ को सम्भव करनेवाला होता है; क्योंकि यह समस्त वासनाओं को काटनेवाला है, '**विशेषदर्शिनः**'-क्लेश-कर्म से परे विशेषपुरुष ईश्वर के दर्शनवाला हो जाता है। ऐसा चित्त उसे प्रत्यक्ष कर लेता है। उस समय उसका आत्मभाव, अहं, कि मैं योगी हूँ-यह भाव सदा के लिये धुल जाता है। उस समय चित्त विवेक में झुका हुआ और कैवल्य स्वरूप की ओर उन्मुख रहता है।

ऐसे चित्त में कभी-कभी यत्किंचित् स्फुरण आते हैं, सूक्ष्म संस्कार प्रस्फुटित होते हैं। ये संस्कार भी क्लेशों की ही तरह भयंकर हैं। साधक को असावधानी या प्रमाद नहीं करना चाहिए। इन अत्यन्त सूक्ष्म संस्कारों का भी विनाश क्लेशों की ही भाँति अनिवार्य है। साधक को इनके भी उन्मूलनपर्यन्त साधना में लगे रहना चाहिए।

इन सूक्ष्म संस्कारों के उच्छेद होने पर योगी विवेक-ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य- परम वैराग्य की स्थिति को प्राप्त हो जाता है। उसका विवेक-ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण '**धर्ममेघः समाधिः**'-आकाशवत् रहनी प्राप्त हो जाती है। इस अवस्था के प्राप्त होते ही समस्त क्लेश और सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों का अन्त हो जाता है। उस समय जिसके सभी आवरण और मल समाप्त हो चुके हैं- ऐसा ज्ञान अनन्त, सीमारहित हो जाता है। '**ज्ञेय अल्पम्**'- ज्ञेय ज्योतिर्मय द्रष्टा अल्पमात्रा में ही अनजाना रहता है। सब कुछ जानने में आ चुका है, जरा-सा भेद है और जब वह भी जानने में आ गया तब योगी कृतार्थ हो जाता है, उसके कर्त्तव्य पूर्ण हो जाते हैं- '**ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्**।' (४/३२) इसके पश्चात् अपना कार्य पूर्ण कर गुणों के परिणाम-क्रम की समाप्ति हो जाती है। अब गुण कोई परिणाम नहीं दे सकेंगे। उस समय योगी का हर श्वास, हर क्षण पर नियंत्रण हो जाता है। पहले साधक घण्टों का प्रतियोगी था, साधन पकड़ में आने पर क्षणों का प्रतियोगी हो जाता है, एक भी श्वास व्यर्थ नहीं जाती। इस परिणाम के उपरान्त '**निर्ग्राह्य क्रमः**'-क्रम कुछ निर्माण या ग्रहण नहीं करते

– न भला न बुरा। यही उनका परिणाम है। यहाँ पुरुषार्थ पूर्ण हुआ, साधना पूर्ण हुई।

'पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।' (४/३४) जिनका स्वरूप के लिये पुरुषार्थ, योग-साधन का क्रम, परिश्रम पूर्ण हुआ, समाप्त हो गया, उस समय गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना अथवा द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना ही कैवल्य पद है। जहाँ जन्म नहीं, मृत्यु नहीं; सुख नहीं, दुःख नहीं- अभय पद, अमृतमय पद, सदा रहनेवाली शान्ति है। **'तत्प्रसादात्परां शान्तिं 'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।'** (गीता, १८/६२) भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं- अर्जुन! हृदय में स्थित ईश्वर की शरण में जा। उसकी कृपा से तू परमशान्ति को प्राप्त होगा। उस स्थान को पा जायेगा जो शाश्वत है, सनातन है।

।। ॐ ।।

।। ॐ श्री परमात्मने नमः ।।

उपशम

● दो प्रकार के पुरुष

गीता के अनुसार, '**द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च। क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।**' (१५/१६) संसार में दो प्रकार के पुरुष होते हैं- क्षर और अक्षर। तीसरा उत्तम पुरुष है, वह अनिर्वचनीय है। परमात्मा और पुरुषोत्तम कहा जाता है; किन्तु है अनिर्वचनीय।

ठीक इसी प्रकार महर्षि पतंजलि के योगदर्शन में पुरुष के दो ही स्वरूप हैं- एक तो द्रष्टा की काल से अतीत आत्मस्वरूप में स्थिति और दूसरा जैसा वृत्तियों का प्रवाह है वैसा ही आपके लिये पुरुष है। वही आपका रूप है, वही द्रष्टा का रूप है।

महर्षि ने आरम्भ में ही वृत्तियों का स्वरूप बताया। वे दो प्रकार की होती हैं- क्लिष्ट और अक्लिष्ट। इन वृत्तियों का निरोध योग का लक्ष्य है। योगशास्त्र का उपक्रम करते हुए महर्षि कहते हैं, '**अथ योगानुशासनम्।**' अब ध्यान दें कि योग क्या है? योग एक अनुशासन है। अनुशासित किसे करें? '**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।**' (१/२)-चित्तवृत्तियों का निरोध योग है। किसी ने श्रम किया, अभ्यास और वैराग्य को साधा, वृत्तियों का निरोध हो ही गया, तो उससे लाभ क्या? '**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।**' (१/३)- निरोध के साथ ही द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है। जो चैतन्य है, अविनाशी है, निर्लेप है उस स्वरूप की स्थिति प्राप्त हो जाती है। इस निरोध के पूर्व द्रष्टा का स्वरूप क्या होता है? '**वृत्तिसारूप्यमितरत्र।**' (१/४)-दूसरे समय में जैसा वृत्तियों का स्वरूप है, वैसा ही आपके लिये द्रष्टा है।

जब तक वृत्तियाँ हैं, शरीरों का परिवर्तन होता रहता है। '**जात्यन्तर-परिणामः प्रकृत्यापूरात्।।**' (४/२) जाति अर्थात् जन्म। इस जन्म का

उस जन्म में बदल जाना जात्यन्तर-परिणाम है। यह **'प्रकृत्यापूरात्'**-प्रकृति के पूर्ण होने से होता है। जिस प्रकृति ने चित्त को जकड़ रखा है उस प्रकृति का शान्त होना और उन्नत प्रकृति का प्रादुर्भाव- यही जाति-परिवर्तन अर्थात् जन्म-परिवर्तन है, जात्यन्तर-परिणाम है। क्रमशः उन्नति करते हुए चित्त का एक प्रकार से दूसरे प्रकार में बदल जाना जन्म-परिवर्तन है। इस परिणाम की जैसी स्थिति में शरीर छूटता है तो पुनः उसी अवस्था से शरीर मिलता है; किन्तु पुरुष के दो ही रूप हैं। वृत्तियों का निरोध होते ही द्रष्टा अपने अविनाशी परमात्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, कैवल्य पद प्राप्त कर लेता है; अन्यथा वृत्तियों का जैसा प्रवाह है, वैसा ही आपके लिये द्रष्टा का स्वरूप है और वही आप हैं, वही आपका स्वरूप है। वृत्तियों के कारण ही जन्म-परिवर्तन है।

● भजन कहाँ से आरम्भ करें?

'तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।' (२/१) तप- मनसहित इन्द्रियों को इष्ट के अनुरूप संयमित करना तप है। स्वाध्याय- कितनी मात्रा में मन लगना चाहिए, कितना मैं भजन में लग पाया हूँ?- इसका भली प्रकार आकलन करते हुए भजन में प्रवृत्त होना स्वाध्याय है। ईश्वर-प्रणिधान- एक ईश्वर के प्रति समर्पण ही ईश्वर-प्रणिधान है। यहीं से योग-क्रिया का आरम्भ हो जाता है। योग के अंगों का अनुष्ठान करने से अशुद्धि का नाश होने पर उस ज्योतिर्मय परमात्मा के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है (२/२८)।

● अभ्यास

'स्थिरसुखमासनम्।' (२/४६)-स्थिर, हलन-चलन से रहित जिसमें सुख प्रवाहित है- ऐसा अचल स्थिर बैठने का नाम आसन है। सीधा स्थिर बैठने से कहीं सुख मिलता है? सहज सुख एकमात्र परमात्मा में है। जब वह चिन्तन में प्रसारित हो, तभी आसन की सिद्धि है। **'प्रयत्नशैथिल्यानन्त-समापत्तिभ्याम्।'** (२/४७)-उक्त आसन प्रयत्न की शिथिलता तथा अनन्त परमात्मा में मन लगाने से स्थिर होता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान में जो प्रयत्न

चल रहा था, उस अभ्यास में शिथिलता आ जाय, प्रयत्न करना न पड़े, सहज होने लगे तथा एक परमात्मा में मन लग जाय, तब आसन सिद्ध होता है।

चित्तवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं- क्लिष्ट और अक्लिष्ट। इनका निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है। इन दोनों में चित्त को स्थिर करने का प्रयास अभ्यास है। अभ्यास का आरम्भ ईश्वर की शरणागति, ॐ के जप, योगाङ्ग के स्वाध्याय के साथ आरम्भ हो जाता है। यह अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर आदरपूर्वक, सांगोपांग श्रद्धापूर्वक करने से '**दृढभूमिः**'- दृढ़ अवस्थावाला होता है। जब चित्त अचल स्थिर ठहरने की अवस्था में आता है तब आसन सध जाता है।

अभ्यास का अंतिम चरण कैवल्य की प्राप्तिपर्यन्त है- '**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति।**' **(४/३४)** '**पुरुषार्थशून्यानाम्**'- जिस पुरुष के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, चित्त को रोकने के लिए जो प्रयत्न किया जाता था, उसमें जो पुरुषार्थ होता था वह पुरुषार्थ पूर्ण हो जाय- यह अभ्यास का पूर्तिकाल है। उस समय गुणों का अपने कारण में विलीन हो जाना कैवल्य स्वरूप है अथवा द्रष्टा का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य पद है- जहाँ जन्म नहीं, मृत्यु नहीं, न सुख न दुःख। यहाँ अभ्यास पूर्ण हो जाता है।

• वैराग्य

अनन्त चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य से होता है- '**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।**' (१/१२) वैराग्य क्या है? समाधिपाद के पन्द्रहवें सूत्र में महर्षि ने बताया- '**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।**' (१/१५) सृष्टि में जो कुछ भी देखने में आता है, इससे भी अधिक भोगों की व्यवस्था जो स्वर्ग-बैकुण्ठ की महिमा में सुनने को मिलती है – इन सबके प्रति तृष्णारहित चित्त का जो प्रवाह है, चित्त की वशीकार अवस्था है, उसी का नाम वैराग्य है।

अभ्यास साथ में चल ही रहा है। अभ्यास वहाँ तक पहुँच गया जहाँ परमतत्त्व परमात्मा विदित हो गया, तब प्रकृति के गुणों के प्रति भी तृष्णा का

सर्वथा अभाव हो जाता है। **'तत्परं पुरुषख्यातेर्गुण वैतृष्ण्यम्।।'** (**१/१६**) पुरुष अर्थात् परम पुरुष चेतन, निर्मल परमात्मस्वरूप के ज्ञान से प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है कि वह है ही नहीं- उसमें भला ढूँढ़ा क्या जा सकता है? जब कुछ है ही नहीं तो उसमें तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है- यह पर-वैराग्य है, वैराग्य की पराकाष्ठा है।

विभूतिपाद में पुनः इसी पर प्रकाश डालते हैं- **'सत्त्वपुरुषान्यताख्याति मात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च।'** (३/४९) बुद्धि और पुरुष अर्थात् साधक और साध्य- इन दोनों की भिन्नतामात्र का ही जिसमें भान है ऐसे सबीज समाधिप्राप्त योगी का समस्त भावों पर स्वामिभाव हो जाता है, वह सब कुछ जानने की क्षमतावाला हो जाता है और जब स्वामित्व तथा सर्वज्ञता भावों में भी वैराग्य हो जाय, तब दोष के बीज का सर्वथा नाश हो जाता है और कैवल्य की प्राप्ति हो जाती है। अर्थात् यह वैराग्य कैवल्य पद शाश्वतधामपर्यन्त पीछा करता है, साथ चलता है। अतः इसका अनुपालन अनिवार्य है।

- **ईश्वर**

योगदर्शन में परम चेतन परमात्मा को आत्मा, द्रष्टा, पुरुष तथा चितिशक्ति कहकर सम्बोधित किया गया है। उदाहरणार्थ, साधनपाद के इकतालीसवें सूत्र में है कि शौच में प्रतिष्ठित होने पर आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है। समाधिपाद के तृतीय सूत्र में है कि चित्तवृत्तियों का निरोध होने पर द्रष्टा अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। कैवल्यपाद के सत्रहवें सूत्र में है कि चित्त का स्वामी पुरुष अपरिणामी है, इसलिए चित्त की वृत्तियाँ उसे सदैव ज्ञात रहती हैं। इसी पाद के अंतिम सूत्र में है कि द्रष्टा चितिशक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। इस प्रकार उस परमतत्त्व परमात्मा को द्रष्टा, चितिशक्ति, पुरुष, प्रभु और आत्मा कहकर संबोधित किया गया है जो ज्योतिर्मय है, तत्त्व है। किन्तु इस शास्त्र में एक शब्द 'ईश्वर' है। वह इससे भिन्न एक उपलब्धि है। यह भी वही स्वरूप है। परम चेतन परमात्मा सहज है; किन्तु यह ईश्वर एक उपलब्धि है।

प्रश्न उठता है, अभ्यास और वैराग्य में हम किसका सहारा लें? किसकी शरण जायँ? महर्षि ने समाधिपाद में एक सूत्र दिया– '**ईश्वरप्रणिधानाद्वा।**' (१/२३) ईश्वर-शरणागति से यह निर्बीज समाधि सिद्ध हो जाती है।

ईश्वर किसे कहते हैं? '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।**' (१/२४) अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पाँच क्लेश हैं। इनसे उत्पन्न कर्म, कर्मों का संग्रह और उसका परिणाम तथा इनकी वासना- इन चारों से जो सम्बन्धित नहीं है, समस्त पुरुषों से जो उत्तम है, वह विशेष पुरुष ईश्वर है। पहले कभी उसका इन चारों से सम्बन्ध था, आज इनसे सम्बन्ध नहीं है। यही विशेष पुरुष ईश्वर है अर्थात् स्वामी है।

गीता में क्षात्र-धर्म का उल्लेख करते हुए बताया गया है- **शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्। दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम्।।** (१८/४३) शौर्य, तेज, धैर्य, '**दाक्ष्यं युद्धे**' अर्थात् साधना में दक्षता, दान अर्थात् सर्वस्व का समर्पण और ईश्वरभाव अर्थात् सब भावों पर स्वामिभाव - ये क्षत्रिय के स्वभावजन्य कर्म हैं। यहाँ ईश्वर का अर्थ 'स्वामी' है।

'**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्।**' (१/२५)- उस ईश्वर में अत्यन्त सर्वज्ञता का भाव रहता है। सर्वज्ञता उसमें सहज है। कुछ भी उसके समक्ष छिपा हुआ नहीं है, 'मैं सर्वज्ञ हूँ'- ऐसा उसे भान भी नहीं है। यह उसमें स्वाभाविक है। यही सद्गुरु का अनादिकाल से स्वरूप रहा है।

'**पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।**' (१/२६)- वह ईश्वर आदिकाल से पूर्वजों का भी गुरु है; क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है। वह पुरुष काल से निर्लेप है। यही सद्गुरु की स्थिति है। यह अकाल पुरुष की स्थिति है।

'**तस्य वाचकः प्रणवः।**' (१/२७)-उस ईश्वर का वाचक नाम प्रणव या ओम् है। प्राप्ति के पश्चात् हर महापुरुष का नाम ओम् है जिसमें वह स्थित है। जप उसी ओम् का करना है। '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'

(१/२८) उस ॐ का जप और अर्थस्वरूप उन परमेश्वर सद्गुरु का चिन्तन, उनका ध्यान अनिवार्य है। ऐसा करने से '**अन्तरायाभावः**'- विघ्नों का अभाव हो जाता है, अन्तरात्मा के स्वरूप में स्थिति मिल जाती है, उस परमात्मा का ज्ञान हो जाता है।

लोग कहते हैं कि योग आरम्भ कहाँ से होता है?-इस पर महर्षि ने बताया, '**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।**' (२/१)- तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति- इन तीनों से योगक्रिया आरम्भ हो जाती है। ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् सद्गुरु के प्रति समर्पण के बिना भजन जागृत ही नहीं होता।

- **अन्तराय (विघ्न)**

महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद के अट्ठाइसवें सूत्र में निर्देश दिया '**तज्जपस्तदर्थभावनम्**'- उस ईश्वर के वाचक प्रणव अर्थात् ओम् का जप करें और उसी के अर्थस्वरूप उस ईश्वर का ध्यान धरें, उन सद्गुरु के प्रति श्रद्धा स्थिर करें। ध्यान का प्रयास तो सभी करते हैं; किन्तु मन लगता नहीं। मन के अन्तराल में कुछ ऐसे विघ्न हैं जो उद्वेग पैदा करते रहते हैं। ओम् के जप और सद्गुरु के ध्यान से '**अन्तरायाभावः**'-अन्तराल में उभरनेवाले (जो बाह्य रूप से दृष्टिगोचर नहीं होते, भीतर ही भीतर घटित होते रहते हैं) विकारों का अभाव और अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है।

जिन अन्तरायों (विघ्नों) का अभाव हो जाता है वे अंतराय हैं क्या? इस पर महर्षि समाधिपाद के तीसवें सूत्र में कहते हैं कि व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व - ये नौ चित्त के विक्षेप हैं। यही अन्तराय (विघ्न) कहलाते हैं।

व्याधि - शरीर, इन्द्रियों में किसी प्रकार का रोग होना, जिससे चिन्तन से चित्त हटकर उन रोगों की चिन्ता में लग जाता है।

स्त्यान - अकर्मण्यता अर्थात् साधन में प्रवृत्त न होने का स्वभाव स्त्यान कहलाता है।

संशय - अपनी शक्ति किंवा योग के फल में संदेह हो जाना संशय है।

प्रमाद - योग-साधना के अनुष्ठानों की अवहेलना करते रहना, व्यर्थ की चेष्टाओं में समय नष्ट करना प्रमाद है।

आलस्य - 'भजन फिर कभी कर लेंगे'-इस प्रकार टालते रहना आलस्य है। कभी-कभी अधिक भोजन कर लेने पर भी शरीर में आलस्य घेर लेता है।

अविरति - तीव्र वैराग्य का अभाव अविरति है। कभी-कभी विषयों का संसर्ग होने पर इन्द्रियों से वैराग्य के स्थान पर उन्हीं विषयों का चिंतन होने लगता है।

भ्रान्तिदर्शन - 'यह साधना ठीक है भी या नहीं'- योग-साधना में कुछ का कुछ मान लेना भ्रान्तिदृष्टि है।

अलब्धभूमिकत्व - साधना की उत्तरोत्तर उन्नत अवस्थाओं, भूमिकाओं का स्पष्ट ज्ञान न होना अलब्धभूमिकत्व है।

अनवस्थितत्व - योग में भली प्रकार स्थिर चित्त में भी अकस्मात् उच्चाटन हो जाना, बिना किसी कारण के ही पाँच-सात मिनट में ही उद्वेग का स्फुरण उत्पन्न हो जाना अनवस्थितत्व है।

ये अन्तराय (विघ्न) हैं, बाहर से न किसी का संग-दोष है, न किसी विषय का आघात है। अन्दर ही अन्दर ये उद्वेलित करते रहते हैं। इनके साथ-साथ इनको सहयोग देनेवाले पाँच विघ्न और हैं। इनमें सर्वप्रथम है-

दुःख - दैहिक, दैविक और भौतिक तीन ताप ही तीन दुःख हैं। देह अर्थात् शरीर में कष्ट; दैविक अर्थात् भूकम्प, अतिवृष्टि, अनावृष्टि से होनेवाला दुःख और भौतिक अर्थात् भूतप्राणियों के संसर्ग से होनेवाला दुःख।

दौर्मनस्य - अपने अभीष्ट पद की पूर्ति न होने पर मन का दुविधा में पड़ जाना, मन में क्षोभ होना दौर्मनस्य है।

अंगमेजयत्व - चिन्तन में भली प्रकार बैठने पर भी अंगों में कम्पन होना अंगमेजयत्व है। कभी-कभी सम्पूर्ण शरीर उछल पड़ता है। योग के आठ अंगों का ठीक-ठीक न होना भी अंगमेजयत्व है।

अनियमित श्वास-प्रश्वास - श्वास जो आप ग्रहण करते हैं और प्रश्वास जो आप त्यागते हैं। साधक ग्रहण करता है सजातीय प्रवृत्ति को, त्यागता है विजातीय प्रवृत्तियों को। कभी-कभी साधक के न चाहने पर भी बाह्य अविद्याजनित स्वर उसके भीतर प्रवाहित हो जाते हैं। न चाहते हुए भी उसके भीतर के विद्याजनित स्वर बाहर प्रस्फुटित होने लगते हैं, वह उपदेश देने लग जाता है।

उपर्युक्त विजातीय तर्क-वितर्क जब यम और नियमों के अनुष्ठान में बाधा पहुँचावें तो '**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।**' (२/३३)- उनके प्रतिपक्षी विचारों का बारम्बार चिन्तन करना चाहिए। अहिंसा के स्थान पर हिंसा, सत्य के स्थान पर असत्य इत्यादि विचार वितर्क कहलाते हैं। ये विपरीत या विजातीय तर्क कभी स्वयं किये जाते हैं, कभी दूसरों से कराये जाते हैं। कभी-कभी केवल अनुमोदन करना भी वितर्क बन जाता है। इसका कारण लोभ, मोह अथवा क्रोध होता है। इन विकारों में कोई अल्प, कोई मध्यम और कोई बहुत बड़े हो जाते हैं। सभी विकार दुःख और अज्ञानरूपी अनन्त फल देने वाले हैं। इस प्रकार की भावना द्वारा इन विकारों से बचना प्रतिपक्ष भावना है; जैसे- ये विकार दुःख और अनन्त योनियों के कारण हैं, यही इनका निकृष्ट फल है। इससे भी अन्तराय (विघ्न) घटने लगते हैं, शनैः-शनैः हट जाते हैं, हल्के पड़ जाते हैं; किन्तु वे निर्मूल तो चिन्तन से ही होंगे, द्रष्टा और दृश्य के संयोग से ही होंगे। वह इष्ट चाहते क्या हैं, उनके निर्देशों के अनुसार चलने से, ईश्वर के आदेशों का पालन करने से ही वे अन्तराय मिटते हैं।

● चित्त-शुद्धि का उपाय

ॐ के जप और ईश्वर के प्रति पूर्ण श्रद्धा होने से अन्तराय (विघ्न) भली प्रकार शान्त हो जाते हैं; किन्तु इनके साथ ही साधक की रहनी कैसी होनी चाहिए?-इन अन्तरायों को शीघ्र दूर करने के लिए महर्षि पतंजलि कई उपायों का सुझाव देते हैं। सर्वप्रथम उनका सुझाव है कि इन अन्तरायों को दूर करने के लिए नाम, रूप इत्यादि में से किसी एक तत्त्व का सतत अभ्यास करना चाहिए (१/३२)। इसके अतिरिक्त सुख, दुःख, पुण्य और पाप- इन

भावों के प्रति क्रमशः मित्रता, दया, आनन्द और उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। सुखी लोगों से (वास्तविक सुख एक परमात्मा के सम्मुख होने में है, ऐसे भक्तों से) मित्रता; इसी प्रकार संसार में आसक्त, दीन-दुखियों के प्रति दयावान हों; पुण्यात्माओं को देखकर हर्ष और पापात्माओं के प्रति तटस्थता का भाव प्रदर्शित करें। साधक को समाज में रहकर ही भजन करना होता है, इसलिए उसे कैसा व्यवहार करना चाहिए-उसी का उल्लेख है। तीसरा सुझाव महर्षि ने दिया कि प्राणवायु को बार-बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित्त भारहीन (हल्का) हो जाता है। उनका आशय है कि प्राणवायु को बाहर निकालें, जितना हो सके बाहर ही रोकें; पुनः श्वास लें, पुनः बाहर निकालें और रोकें। तीन-चार बार ऐसा करने से शरीर के भीतर रुकी वायु और उसके साथ विजातीय संकल्प भी बाहर निकल जाते हैं। शरीर हल्का प्रतीत होने लगता है। इसके साथ ही चिन्तन में लग जायँ- नाम में, रूप में कहीं भी मन को तत्काल लगायें, मन लगेगा और ये विकार बाधा नहीं डाल पायेंगे।

योग-साधन जो साधक का विषय है, जैसे- चित्तवृत्तियों का निरोध, द्रष्टा की उपलब्धि, स्वरूप में स्थिति, कैवल्य पद- जो साधक का अभीष्ट विषय है उसमें सहायक प्रवृत्तियों का चिन्तन भी चित्त को स्वच्छ करने, मन को स्थिर करने में सहायक होता है। '**समिटि समिटि जल भरहिं तलावा। जिमि सदगुन सज्जन पहिं आवा।।**' (रामचरितमानस, ४/१३/४) सृष्टि गुण-दोषमय है। करोड़ों दुर्गुणों के मध्य एकाध गुण अवश्य होंगे। साधक की दृष्टि मात्र उस गुण पर होती है। साधनोपयोगी गुण ग्रहण करने से चित्त स्वच्छ होता जाता है।

साधना उन्नत होने पर शोकरहित ज्योतिर्मय परमात्मा से सन्देश मिलने पर चित्त में उत्साह, उमंग भर जाता है। उसका आश्रय लेकर चलने से चित्त हल्का और स्थिर होने लगता है।

इसके अतिरिक्त यदि कोई राग से मुक्त वीतराग महापुरुष मिल जायँ तो उनका संसर्ग, दर्शन, वाणी-श्रवण, स्पर्श, सेवा करने से अन्तरायों (विघ्नों) को हटाने में तथा नाम-रूप के चिन्तन में भली प्रकार सहायता मिलती है।

स्वप्न तो सभी देखते हैं लेकिन योगी स्वप्न कभी नहीं देखता। वह स्वप्न में जो कुछ देखता है भविष्य देखता है, होनी देखता है। भगवान द्रष्टा-दृश्य के संयोग से बताते हैं। जागृत अवस्था में भी वह दृश्य प्रस्तुत करते हैं। साधक सो जाता है; किन्तु उसका मन तब भी जागृत रहता है। उसके स्वप्न-जगत् को भगवान धारण कर लेते हैं। वहाँ भी वे अपना प्रसारण करते रहते हैं। अतः साधक को समझना होगा कि स्वप्न क्या कहता है? इसका आशय क्या है? निद्राकाल में स्वप्न के रूप में आनेवाले दृश्यों का आशय समझते हुए चलने से अन्तराय (विघ्नों) का अन्त होना और चित्त का नाम-रूप में लगना एक साथ होता रहता है।

मन को स्थिर करने के परिप्रेक्ष्य में महर्षि एक महत्त्वपूर्ण सूत्र कहते हैं- **'यथाभिमतध्यानाद्वा।' (१/३९)**- जैसा आपको अभिमत है उसी के ध्यान से मन स्थिर होता है। साधक का अभिमत है अभ्यास और वैराग्य का पालन, योग का अनुष्ठान, चित्तवृत्तियों का निरोध, द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति। इनके अनुरूप कोई विचार, कोई दृष्टान्त, कोई भाव मिलता है तो उससे साधक को सहयोग लेना चाहिए। उदाहरण के लिए- भगवान दत्तात्रेय को कुत्ता मिला, पक्षी मिला, अजगर मिला। उन्होंने इन सबसे योग-साधना में सहायक, सद्‌गुरु की विद्या के ही अनुरूप अर्थ ग्रहण किया। वे एक दिन महायोगेश्वर, अवतार कहलाये। इसी प्रकार साधक प्रकृति के घटना-चक्र से योग के अनुकूल सहयोग लेते हुए एक ईश्वर के प्रति श्रद्धा, उस ईश्वर का नाम प्रणव (ओम्) का जप करते हुए, अभ्यास-वैराग्य से सतत आगे बढ़ता रहता है। ऐसे योगी का परमाणु से लेकर परममहत्त्व तक वशीकार हो जाता है। वह बड़ी से बड़ी या सूक्ष्म से सूक्ष्म वस्तु में जब चाहे जिस क्षण वह अपने चित्त को वहाँ रोक सकता है। यह साधना के सहायक अंग हैं, न कि अलग से कोई साधना।

सृष्टि में अनन्त दृश्य साधक के समक्ष आते ही रहते हैं; किन्तु साधक को उनका आशय योगपरक बनाकर ही धारण करते रहना चाहिए। उदाहरण के लिए- शस्त्रों के अनुसंधानहेतु अर्जुन देवराज इन्द्र के यहाँ था। इन्द्र की सभा में अर्जुन ने उर्वशी को देखा तो देखता ही रह गया। सभा समाप्त होने

पर देवताओं ने कहा, "देवेन्द्र! आप तो कह रहे थे कि हमारा पुत्र त्यागी है, तपस्वी है, जितेन्द्रिय है। यह तो जब से वह अप्सरा आई, उसी को देखता जा रहा था। इसे इतना भी ज्ञान नहीं कि यह कितनी पवित्र सभा है या यहाँ कौन बैठे हैं?" इन्द्र ने कहा, "देख तो मैं भी रहा था, उसी से पूछें कि उसने क्या देखा? नृत्य कैसा था?" देवताओं द्वारा प्रश्न किये जाने पर अर्जुन प्रकृतिस्थ हुआ। देवताओं को उसने सादर प्रणाम किया और बोला, "क्षमा करें! मैंने कोई नृत्य नहीं देखा।" देवताओं ने पुनः सस्मित कहा, "तुम देख क्या रहे थे?" अर्जुन ने बताया, "माताजी से बिछुड़े वर्षों हो गये थे, जब देवी जी पर दृष्टि पड़ी मुझे प्रतीत हुआ कि कदाचित् माताजी ही आ गई हों। तभी से मैं मातृस्नेह में ही खोया हूँ।" थी तो वह अप्सरा, किन्तु अर्जुन ने उसे मातृवत् देखा। उसने श्राप भी दिया; किन्तु वह भी अर्जुन के लिए सहायक ही हुआ। जब साधक लक्ष्य पर अडिग रहता है तो श्राप भी आशीर्वाद बन जाता है। विपद् भी सम्पद् हो जाती है। इस प्रकार योगपरक अर्थ ढालने से साधक का चित्त शान्त, सम और स्थिर होता ही चला जाता है।

• क्लेश

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से समाधि की भावना स्थिर होती है तथा '**क्लेशतनूकरणार्थश्च**' (२/२)- क्लेशों को क्षीण करने के लिए भी क्रिया-योग की आवश्यकता है। क्लेश क्या हैं?- **अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः।।** (२/३)- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पाँच क्लेश हैं। अविद्या इन सबका मूल है। शेष सभी क्लेश इसी अविद्या के साथ चलते हैं।

अविद्या - अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, दुःख को सुख तथा अनात्मा में आत्मभाव की प्रतीति अविद्या है।

अस्मिता - दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति - इन दोनों का एकरूप हो जाना अस्मिता है अर्थात् प्रकृति और पुरुष आत्मा का मिश्रण अस्मिता है।

राग - अनुकूल सुखकर वस्तुओं की ओर दौड़नेवाले मन के प्रवाह को राग कहा जाता है।

द्वेष – जिनसे दुःख मिलता है उन्हें त्यागने का प्रयत्न द्वेष है, जो दुःख का अनुगमन करता है।

अभिनिवेश – 'स्वरसवाही'–जो परम्परागत चला आ रहा है तथा मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी सदा विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश अर्थात् पूर्व सांसारिक जीवन है, जिसके प्रति लगाव अब तक चला आ रहा है। प्रकृतिस्थ जीवन हमारा घर है नहीं; किन्तु हमने उसे अपना निवास मान रखा है। हमारा वास्तविक घर तो सन्त कबीर के शब्दों में– **'तवन घर चेतो हो भाई। तोहरा आवागमन मिटि जाई।'** यही भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है, **'स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।'** (गीता, १८/६२) शाश्वत स्वरूप ही हमारा–आपका धाम है। किन्तु इस संसार में जहाँ हम पहले निवास करते थे, उसके प्रति खिंचाव अभिनिवेश है, एक क्लेश है। कल प्राप्ति होनेवाली है फिर भी आज तक वह खींचता है। अगले पल प्राप्ति होनी है, तब तक यह पीछा करता है, इसलिए मूढ़ों की भाँति विवेकशीलों में भी यह देखा जाता है।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान से ये क्लेश क्षीण हो जाते हैं, नष्ट नहीं होते। सूक्ष्मावस्था को प्राप्त ये क्लेश नष्ट करने योग्य हैं। इन पूर्व वृत्तियों का अभाव ध्यान से होता है।

क्लेश जिसका मूल है, उससे उत्पन्न संग्रहीत कर्म–संस्कारों का समुदाय पुनर्जन्म, आयु और भोग देता ही रहता है। वे जन्म–मृत्यु और भोग, कभी हर्ष तो कभी शोक देनेवाले होते हैं; क्योंकि पुण्यकर्म या पापकर्म उनके कारण हैं। पुण्यकर्म जो आह्लाद प्रदान करता है, वह भी दुःखरूप ही है; क्योंकि जहाँ उसका संस्कार शान्त हुआ, पापकर्मों के संस्कारों का क्रम आरम्भ हो जाता है। परिणामतः पुनः दुःख स्वाभाविक है। अतः विवेकी के लिये सभी कर्म दुःखस्वरूप ही हैं।

'हेयं दुःखमनागतम्' (२/१६)–जो दुःख आनेवाला है वह नष्ट करने योग्य है। इन क्लेशों को नष्ट करने का उपाय द्रष्टा–दृश्य–संयोग है। क्रिया चल रही थी तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान की, उससे क्लेश

हल्के भी हुए थे; किन्तु महर्षि ने एक नवीन सूत्र दे दिया कि द्रष्टा और दृश्य का संयोग ही इन क्लेशों के अन्त का एकमात्र उपाय है। ये दृश्य क्या हैं? प्रकाश, क्रिया और स्थिति जिनका स्वभाव है अर्थात् ईश्वरीय प्रकाश, प्रकाश की ओर बढ़ाने वाली क्रिया और प्रकाश में स्थिति प्रदान करना जिसका स्वभाव है; भूत और इन्द्रियाँ जिसका प्रकट स्वरूप हैं अर्थात् इन्द्रियों और विविध स्वरूपों में उदाहरण की तरह से प्रकट होते हैं, कभी लिंगमात्र और कभी अलिंग अरूप आकाशवाणी इत्यादि के माध्यम से चलते हैं; पुरुष के लिये भोग और मुक्ति का सम्पादन करना जिसका प्रयोजन है; (**'भोक्तारं यज्ञतपसां' (गीता, ५/२९)**- श्रद्धा, यज्ञ, तप, स्वाध्याय यही पुरुष के भोग हैं), उनकी व्यवस्था करते हुए अपवर्ग परमश्रेय की प्राप्ति करा देना दृश्य का प्रयोजन है।

द्रष्टा चेतन मात्र ज्ञानस्वरूप है। द्रष्टा स्वभाव से सर्वथा शुद्ध और निर्विकार है; किन्तु बुद्धिवृत्ति के अनुरूप ही वह देखता है अर्थात् बुद्धि में जैसा दबाव है, उसके अनुरूप ही वह दृश्य प्रसारित करता है।

द्रष्टा और दृश्य के संयोग का अभिप्राय है अनुभव। जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम बैठे हैं, हमारी साधना, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, लगन अनुरागपूरित हृदय से ऐसी हो कि वह जागृत हो जाय। वह निर्विकार द्रष्टा दृश्य प्रसारित करने लगे, परमात्मा अपनी ओर से दृश्य प्रस्तुत करने लगे। वे अर्जुन की तरह दृष्टि प्रदान करें, संचार प्रदान करें, अपनी विभूतियों से अवगत करायें- यही है द्रष्टा और दृश्य का संयोग। भजन जागृत होना, परमात्मा का जागृत होना, रथी हो जाना द्रष्टा-दृश्य का संयोग है। **'जाके रथ पर केशो, ताको कौन अंदेशो।'** उन ईश्वर के निर्देशन की प्राप्ति करना, उनके संरक्षण में चलने से क्लेशों का अन्त हो जाता है, जो किसी तत्त्वदर्शी महापुरुष (सद्गुरु) के द्वारा सम्भव है।

जिन आत्मतृप्त, आप्तकाम महापुरुष के भोग और अपवर्ग का कार्य पूर्ण हो गया है, उनके लिए उस दृश्य का कोई प्रयोजन ही नहीं रह जाता; किन्तु दूसरे साधारण पुरुषों के लिये उस महापुरुष के अन्तर्जगत् से ही दृश्य

प्रसारित होता रहता है। कैवल्यपाद में इसी पर पुनः बल दिया गया है कि द्रष्टा और दृश्य के संयोग से रंगा हुआ चित्त '**सर्वार्थ**'-सम्पूर्ण अर्थ को ही ग्रहण करानेवाला होता है। वह चित्त असंख्य वासनाओं से घिरा रहने पर भी परमार्थिक अर्थ को ही ग्रहण करनेवाला तथा '**विशेषदर्शिनः**'-विशेष पुरुष ईश्वर के दर्शनवाला होता है। वह आत्मभाव, अहंभाव, उस भाव से भी ऊपर उठकर कैवल्य के अभिमुख होता है।

विवेकप्रवण तथा कैवल्य के अभिमुख चित्त से कोई शुभाशुभ निर्माण नहीं होता; किन्तु ऐसी अवस्था में भी अन्तराल में स्फुरण उठते हैं, अन्य संकल्प आते हैं, वे '**संस्कारेभ्यः**'- संस्कारों से आते हैं। संस्कार की परत में अतिसूक्ष्म कुछ पड़ा है, वही स्फुरित होते हैं। '**हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।**' **(४/२८)**- इन संस्कारों का विनाश क्लेशों की भाँति ही करना चाहिए; क्योंकि इन संस्कारों का मूल क्लेश है, जिसका परिणाम जाति (पुनर्जन्म), आयु और भोग है।

ये सूक्ष्म संस्कार भी कब नष्ट होते हैं? जिस योगी का विवेकज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है उस समय उसका विवेक ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान हो जाता है। उसे धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति हो जाती है। चिदाकाश में सर्वत्र धर्म ही प्रकाशित रहता है, अन्य कुछ भी नहीं। उसके प्रभाव से समय, क्लेश और कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

सारांशतः महर्षि पतंजलि के अनुसार अभ्यास, वैराग्य, यम, नियम, आसन, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान इत्यादि का विधिवत् अनुष्ठान करने से क्लेश क्षीण अवश्य होते हैं; किन्तु नष्ट नहीं होते। हमारी श्रद्धा ऐसी हो कि वह परमात्मा हृदय से जागृत होकर अपना दृश्य प्रसारित करने लगे, जो पुरुष के लिए मुक्ति का सम्पादन करता है। उन्हीं के द्वारा संचालित होकर उन क्लेशों का सर्वथा नाश हो पाता है अर्थात् इष्ट की जागृति अनिवार्य है। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति से यह सम्भव है। महर्षि पतंजलि के अनुसार 'ईश्वर' एक पूर्णत्वप्राप्त योगी, महायोगेश्वर का स्वरूप है और द्रष्टा, चेतन, प्रभु, आत्मा, अविनाशी, चितिशक्ति इत्यादि एक परमात्मा, शाश्वत ब्रह्म के सम्बोधन हैं।

● योग के आठ अंग

योग के विभिन्न अंगों का अनुष्ठान करते-करते जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, उस समय ज्ञान का प्रकाश विवेकख्यातिपर्यन्त हो जाता है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि- ये आठ अंग हैं। इन योगाङ्गों में प्रथम यम है। यम के पाँच अंग हैं- अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह।

अहिंसा - शरीर एक वस्त्र है। जीवन-मृत्यु संस्कारों पर आधारित है। संस्कार जीर्ण होते ही पुराना वस्त्र बदल जाता है। एक दिन इन शरीरों से परे शुद्धस्वरूप की प्राप्ति के साथ ही शरीर-धारण के क्रम पर विराम लग जाता है। अहिंसा का तात्पर्य अपनी आत्मा को अधोगति में न पहुँचाना है। अहिंसा की दृढ़ स्थिति हो जाने पर '**तत्सन्निधौ वैरत्यागः**'-उस योगी के निकट सभी प्राणी वैर त्याग देते हैं। वैरी हैं- काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर। इन महापुरुष की शरण आते ही इन विकारों का त्याग होने लगता है।

अर्जुन ने पूछा, "प्रभो! किसकी प्रेरणा से मनुष्य पाप का आचरण करता है?" भगवान ने कहा, '**'काम एष क्रोध एष रजोगुण समुद्भवः। महाशनो महापाप्मा विद्धयेनमिह वैरिणम्।।'** (**गीता, ३/३७**)-अर्जुन! काम और क्रोध अग्नि के सदृश भोगों से कभी न पूर्ण होनेवाले साधना के निरन्तर वैरी हैं, दुर्जय शत्रु हैं। दृढ़ वैराग्यरूपी शस्त्र द्वारा इन्हें काट। राग और द्वेष, इनके वश में नहीं होना चाहिए। ये तुम्हारे प्रतिपंथी हैं, विरोधी हैं। अहिंसा की दृढ़ स्थितिवाले महापुरुष के शरण-सान्निध्य में पहुँचते ही पुरुष इनका त्याग करने लगता है।

सत्य - संसार नश्वर है। सत्य, नित्य, परमतत्त्व, सनातन, द्रष्टा, ध्येय केवल परमात्मा है। सत्य में दृढ़ स्थिति आ जाने पर, समर्पण से डोर लग जाने पर, समर्पण सध जाने पर '**क्रियाफलाश्रयत्वम्**'-योग-क्रिया का फल जो परमात्मा है उसका आश्रय, उसका संरक्षण मिल जाता है। भगवान योगक्षेम की व्यवस्था करने लग जाते हैं।

अस्तेय - चोरी अर्थात् छिपाव का अभाव अस्तेय है। गीता में है-

'तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।' (३/१२)-इन दैवी गुणों को बढ़ाये बिना जो कहता है- 'मैंने प्राप्त कर लिया', निश्चय ही वह चोर है। जब पाया ही नहीं तो भोगेगा क्या? इस पथ से मुँह छिपानेवाला वह निश्चय ही चोर है। साधक में चोरी का अभाव होना ही चाहिए।

पूज्य गुरु महाराज कहा करते थे कि सद्गुरु के सामने जो हृदय में हो, वही जबान पर होना चाहिए। हृदय में कुछ है और जबान पर कुछ और, वह योगी कभी कामयाब नहीं होता है।

अस्तेय में प्रतिष्ठित हो जाने पर **'सर्वरत्नोपस्थानम्'**-सभी रत्न प्रकट हो जाते हैं। ये रत्न हैं- विवेक, वैराग्य, शम, दम, ज्ञान, तप, चरित्र इत्यादि। ये दैवी गुण सुलभ हो जाते हैं।

महावीर ने कहा, "राजन्! त्रिरत्न धारण करें।" **'सम्यक्दर्शनज्ञान-चरित्राणि।'** तीर्थस्वरूप महापुरुष का दर्शन, उनमें श्रद्धा स्थिर करें, उनसे साधना ज्ञात करें और उसे आचरण में ढालें। ईश्वर-पथ के यही सर्वोपरि रत्न हैं।

समुद्र-मन्थन में कतिपय रत्न निकले थे- **'श्री मणि रम्भा वारुणी, अमिय संख गजराज। कल्पद्रुम शशि धेनु धनु, धनवन्तरि विष बाज।।'** कदाचित् इन रत्नों में से वारुणी या रम्भा ही उपलब्ध हो जाय तो साधक क्या करेगा? योगपथ के रत्न वे हैं जिनसे साधन सुलभ होता है।

भगवान ने काकभुशुण्डि जी को दर्शन देकर कहा- **'ग्यान बिवेक बिरति बिग्याना। मुनि दुर्लभ गुन जे जग नाना।। आजु देउँ सब संसय नाहीं। मागु जो तोहि भाव मन माहीं।।' (मानस, ७/८३/१-२)** यही सब गुण वास्तव में रत्न हैं। अस्तेय से सम्पूर्ण साधन-विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

ब्रह्मचर्य - 'ब्रह्म आचरति स ब्रह्मचारी'-जो ब्रह्म का आचरण करता है, शाश्वत-सनातन ब्रह्म के लिए जो प्रयत्नशील है वह ब्रह्मचारी है। **'यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति'**-उस शाश्वत परब्रह्म को जानने के लिए जितने साधन हैं, उन साधनों को अपने में ढालने का प्रयत्न व्यक्ति जिस दिन से आरम्भ करता है उस दिन से वह ब्रह्मचारी है। केवल जननेन्द्रिय-संयम ही

ब्रह्मचर्य नहीं है। साधक का मुख्य लक्ष्य वह परमात्मा है जिसे पाने के लिए सभी इन्द्रियों के बहिर्मुखी प्रवाह को रोकना है। उस एक परमात्मा के निरन्तर स्मरण से जननेन्द्रिय-संयम ही नहीं, सकलेन्द्रिय-संयम हो जाता है। न आँखें दूसरा कुछ देखती हैं, न कान दूसरा सुनते हैं, न त्वचा से किसी का स्पर्श है और न मन से अन्य विकल्प ही उठता है, केवल इष्टोन्मुखी प्रवृत्ति जागृत है- इस प्रकार ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति आ जाने पर '**वीर्यलाभः**'- सम्पूर्ण सामर्थ्य का लाभ हो जाता है।

उपस्थेन्द्रिय (जननेन्द्रिय) संयम अनिवार्य है। यह ब्रह्मचर्य व्रत के अंतर्गत है। कुछ लोग हठपूर्वक जननेन्द्रिय-संयम तो कर ले जाते हैं किन्तु शेष इन्द्रियों से विषयों का चिन्तन चलता रहता है। सब प्रकार के विषयों का चिंतन मिट जाना विशुद्ध ब्रह्मचर्य है।

भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो हठ से इन्द्रियों को रोककर मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है वह दम्भाचारी है, पाखंडी है। अतः समस्त इन्द्रियों को उस ब्रह्म- बृहद् तत्त्व परमात्मा के अनुरूप प्रवाहित करना ब्रह्मचर्य है। जब ब्रह्मचर्य व्रत की दृढ़ अवस्था आ जाती है तो सामर्थ्य, वीर्य, शौर्य और पराक्रम का लाभ हो जाता है। वह धैर्यवान् हो जाता है। विपत्तियाँ भी आ पड़ीं तो मीरा की तरह, प्रह्लाद की तरह वह घबड़ाता नहीं, न पीछे हटता है। ऐसी विपदायें होती ही नहीं जो उसे पदच्युत कर दें। वह अजातशत्रु है।

अपरिग्रह - सामाजिक सन्दर्भों में आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का स्वार्थ की दृष्टि से संग्रह न करना अपरिग्रह कहा जाता है। दूसरों की वस्तु स्वीकारना उनके द्वारा अनुग्रहीत होना है। दान स्वीकार करने से दाता के पाप लेने की सम्भावना भी है, इसलिए परिग्रह के त्याग से मन शुद्ध एवं स्वाधीन रहता है। परन्तु योगी के लिए अपरिग्रह का आशय कुछ विशेष है। ध्यान की स्थिति जागृत होने पर ध्यानजनित चित्त '**अनाशयम्**' (४/६)-नष्ट नहीं होता; क्योंकि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं। कर्मों का न शुभ परिणाम निकलता है न अशुभ। उस समय वह अपरिग्रह की स्थितिवाला हो जाता है। उसके कर्मों से न शुभ ही ग्रहण होता है न अशुभ की ही रचना होती

है। उस समय नवीन रचना तो होती नहीं; किन्तु पूर्वजन्म के संस्कारों की परत में क्या निहित है, वह कब तक रहेगा और कितनी साधना करने पर वह शान्त होगा?–इन सब बातों का ज्ञान हो जाता है। महर्षि पतंजलि कहते हैं– **'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः।' (२/३९)**– अपरिग्रह में दृढ़ स्थिति होने पर 'पूर्वजन्म कैसे हुए थे?'–इसका भलीभाँति बोध हो जाता है। ऐसे चित्त से कोई नवीन निर्माण तो होता नहीं, फिर भी कुछ स्फुरण उठते हैं; **'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।' (४/२७)**–दूसरे पदार्थों के दृश्य प्रकट होते हैं वह संस्कारों के कारण हैं, उन संस्कारों की जानकारी हो जाती है। अपरिग्रह की स्थिति आ जाने पर उन सभी संस्कारों की जानकारी हो जाती है; क्योंकि उतना ही स्फुरित होता है।

● **नियम**

पाँच यमों की ही तरह नियम भी पाँच हैं– शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान। इनमें सर्वप्रथम है–

शौच - शौच के विषय में इन महापुरुष ने दो सूत्र दिये हैं। साधनपाद के चालीसवें सूत्र में वे कहते हैं कि शौच के पालन से अपने अंगों में वैराग्य तथा अन्य संसर्ग से अलग रहने की भावना जागृत होती है। इकतालीसवें सूत्र में भी शौच का महत्व बताया कि इससे अंतःकरण की शुद्धि, मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना और आत्म–साक्षात्कार की योग्यता आ जाती है।

वस्तुतः तप, स्वाध्याय और ईश्वर–प्रणिधान के अभ्यास से अंतःकरण पूर्णतः शुद्ध और शान्त प्रवाहित हो जाता है। इसी का नाम शौच है। शौच अन्तःकरण की शुद्धि है। मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार– ये चतुष्टय अंतःकरण इष्ट के अनुकूल प्रवाहित हो जायँ, उस समय अपने शरीर से भी वैराग्य हो जाता है। ऐसे महापुरुष वर्षों स्नान न करें तब भी कोई आश्चर्य नहीं है। वे पड़े हैं तो पड़े हैं, खड़े हैं तो खड़े हैं। वे जानते हैं कि यह शरीर तो **'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा।' (मानस, ७/४२/८)**–एक धाम है, वस्त्र है इसलिए जीव–जगत् में जितने भी शरीर हैं उनके संसर्ग से अलग रहने की क्षमता आ जाती है। तब मन में प्रसन्नता, चित्त की एकाग्रता, इन्द्रियों का वश

में होना और आत्मदर्शन की क्षमता आ जाती है। देहाध्यास नहीं रहता। कैसा भी संग-दोष आ जाय तब भी असंग रहने की क्षमता आ जाती है। बाह्य शरीर को धोना, सजाना, अलंकृत करना - यह तो भयंकर देहासक्ति और देह-तृष्णा का प्रतीक है। आंतरिक शुद्धि वाले महापुरुषों का नहाना-धोना कुछ समझ में नहीं आता। वे अंततः दिगम्बर भी पाये जाते हैं। किसी वृक्ष के नीचे बैठे हैं। भगवान महावीर के ऊपर लोगों ने कीचड़ फेंका, गुरुदेव भगवान पर बच्चों ने कंकड़ फेंके; किन्तु वे अविचल रहे।

सांसारिक लोग शरीर-सम्बन्धों को लेकर कुछ कह देने से आग बबूला हो उठते हैं; किन्तु ऐसे महापुरुष की साधना में बाधा पड़ने लगे तभी वे चिन्तित होते हैं। सन्त कबीर की अनुभूति देखें- **'एक अचम्भा ऐसन देखा, मुरदा रोटी खाय। सनकारे ते बोलत नाहीं, मारे ते चिल्लाय।।'** चिन्तनपरायण साधक मृतप्राय हैं। कुछ भी कह दें, उससे कुछ भी प्रयोजन नहीं है। इन्हें आभास भी नहीं होता। कदाचित् कोई पूर्वसंस्कार उद्वेग पैदा करते हैं तभी ये चिल्लाते हैं, प्रार्थना करते हैं।

सन्तोष - सन्तोष में दृढ़ स्थिति का वर्णन करते हुए महर्षि कहते हैं, **'सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः।'** (२/४२)-जिससे उत्तम कोई सुख नहीं है ऐसे सर्वोत्तम सुख का लाभ सन्तोष से होता है। सर्वोत्तम सुख एक परमात्मा के दर्शन और स्थिति में है। **'राम बिमुख सुख सपनेहुँ नाहीं।' (मानस, २/२५५/१)** जब है नहीं तो पायेगा कहाँ से? सन्तोष का अर्थ है- जो सम है, जिसमें विषमता नहीं है। ऐसा एक परमतत्त्व परमात्मा है। उससे तोष या तृप्ति प्राप्त होना संतोष है। वह सर्वोत्तम सुख का स्रोत है। इस संतोष में प्रभु का प्रभाव जानने में आता है- **'उमा राम सुभाउ जेहिं जाना। ताहि भजन तजि भाव न आना।।' (मानस, ५/३३/३); 'कह हनुमंत बिपति प्रभु सोई। जब तव सुमिरन भजन न होई।।' (मानस, ५/ ३१/३)** उसे चिन्तन से ही सहज सुख मिलने लगता है इसलिए वह बाह्य सुखों की अपेक्षा नहीं करता।

तप - तपस्या से जब अशुद्धि का नाश हो जाता है, तब **'कायेन्द्रिय-सिद्धिः' (२/४३)**- शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है। शरीर और

इन्द्रियाँ इष्ट के अनुरूप चलने की क्षमतावाली हो जाती हैं। ये सध जाती हैं- शरीर सध जाता है और साधना में साथ देनेवाला हो जाता है।

इष्ट के अनुरूप मनसहित इन्द्रियों को तपाना तप है। साधक जब इस कसौटी पर आ गया तो शरीर भी सध जाता है, इन्द्रियाँ भी सध जाती हैं। आज मन लगाने से नहीं लगता, उस समय सहज लगने लगता है। इन्द्रियाँ साथ देने लगती हैं अर्थात् मन और इन्द्रियों पर नियंत्रण हो जाता है।

स्वाध्याय - स्वयं का अध्ययन स्वाध्याय है। साधक स्वयं का अध्ययन करता है कि चित्त को कितना लगना चाहिए और कितना लग पाया है?-ऐसा अध्ययन करते हुए जहाँ-जहाँ कमी है, वहाँ से हटाकर पुनः साधना में लगाते हुए आगे बढ़ना स्वाध्याय है। ऐसे स्वाध्याय की पराकाष्ठा में इष्टदेवता का साक्षात्कार हो जाता है, '**इष्टदेवतासंप्रयोगः**'-इष्टदेवता का भली प्रकार सम्बन्ध हो जाता है। योग-साधना में स्वाध्याय अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है।

ईश्वर-प्रणिधान - ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् ईश्वर-शरणागति से समाधि की सिद्धि हो जाती है। जो सम है, आदि है उसके साथ समत्व प्राप्त हो जाता है। क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से जो उपराम है, ऊपर उठ चुका है, ऐसा विशेष पुरुष ईश्वर है। जिसका काल से अवच्छेद नहीं है, वह कालातीत, गुरुओं का भी गुरु परम गुरु है। यही आदि गुरुपद है। इनके प्रति समर्पण के साथ साधन करने से समाधि की सिद्धि शीघ्र हो जाती है; क्योंकि साधन की सिद्धि का भार ईश्वर के ऊपर हो जाता है। वे योगक्षेम, सार-सँभाल करने लग जाते हैं। यही सद्‌गुरु हैं।

आसन - यम नियमों के पश्चात् आसन का क्रम आता है। स्थिर, हलन-चलन से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। '**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।**' (२/४६)-प्रयत्न की शिथिलता से अर्थात् यम, नियम, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्यायादि में जो प्रयत्न चल रहा था, उस प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त परमात्मा में मन लगने से यह आसन सिद्ध हो जाता है। अनन्त में मन लगने से स्पष्ट है कि यह स्थिरता मात्र शरीर की नहीं बल्कि मन की स्थिरता है। यम-नियम का अभ्यास इतना हो जाय

कि वे स्वाभाविक होने लगें, प्रयास न करना पड़े। परमात्मा में मन लगने से आसन सिद्ध हो जाता है।

प्राणायाम - आसन के सधते ही श्वास-प्रश्वास की गति रुक जाना प्राणायाम है। सधा था आसन, अवस्था आ गयी प्राणायाम की। श्वास जो आप लेते हैं और प्रश्वास जो आप त्यागते हैं – इन दोनों की गति रुक जाना प्राणायाम है। साधक अक्लिष्ट वृत्ति – दैवी सम्पद् ग्रहण करता है और क्लिष्ट वृत्ति – आसुरी सम्पद् त्यागता है। यह ग्रहण करना और त्यागना शान्त हो जाय, इनकी हलन-चलन का रुक जाना प्राणायाम है। यह साधना का एक स्तर है। इसे पार करना है।

यह प्राणायाम बाह्यवृत्ति, आभ्यंतरवृत्ति और स्तम्भवृत्ति- तीन प्रकार से देश, काल और संख्या द्वारा भलीभाँति देखा जाता हुआ दीर्घ और सूक्ष्म होता जाता है। बाह्यवृत्ति अर्थात् राग, द्वेष, काम, क्रोध के किस देश में वृत्ति गयी, कितने काल (समय) तक रुकी?-संख्या द्वारा देखते हुए चित्त को लगायें। आभ्यंतरवृत्ति का तात्पर्य विवेक, वैराग्य, शम, दम, धारणा, ध्यान में से किसके विश्लेषण में वृत्ति लगी है, वृत्ति वहाँ कितने काल तक लगी?- संख्या द्वारा उसे देखें और उसे वहाँ से हटाकर स्तम्भवृत्ति में लगायें। भली प्रकार देखा जाता हुआ यह प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म हो जाता है। इससे उन्नत अवस्था में **'बाह्याभ्यंतरविषयाक्षेपी चतुर्थः।'** (२/५१)- जब बाह्य विषय जो प्रकृतिजन्य है, क्लेशों से प्रवाहित है, अविद्याजन्य है - क्लिष्ट है; तथा आभ्यन्तर वृत्ति, दैवी सम्पद् - अक्लिष्ट- दोनों शान्त हो जायँ, सम हो जायँ, इन पर रोक लग गया, विराम लग गया, चित्त एक आयाम में प्रवाहित हो गया - इसका नाम प्राणायाम है।

'धारणासु च योग्यता मनसः।' (२/५३)- प्राणायाम के सधते ही मन में धारण करने की योग्यता आ जाती है। आरम्भिक साधक नाम या रूप मन में धारण करने का प्रयास करता है किन्तु थोड़ी ही देर में नाम या रूप खो जाता है, विलुप्त हो जाता है, न जाने क्या-क्या आने लगता है; किन्तु प्राणायाम के सधते ही चित्त में धारण करने की क्षमता आ जाती है।

प्रत्याहार - **'स्वविषय असम्प्रयोगे'**- अपने विषयों का सम्बन्ध त्यागकर इन्द्रियों का **'चित्तस्वरूप अनुकारः इव'**- चित्त के स्वरूप में अनुकरण-जैसा प्रवाहित होना प्रत्याहार है। चित्त जहाँ लगता है इन्द्रियाँ उसी के रंग में रँग गयीं, अपने विषयों का उन्होंने परित्याग कर दिया - इसका नाम प्रत्याहार है। उस समय इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है अर्थात् इन्द्रियों पर पूर्णरूप से जय प्राप्त हो जाती है।

धारणा - विषयों से लौटी हुई इन्द्रियों का चित्त का अनुकरण करनेवाली होते ही चित्त में धारण करने की क्षमता आ जाती है। **'देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।'** (३/१)-जिस किसी देश में, नाम में, रूप में, ब्रह्मविद्या में, योग के अंगों में से किसी एक अंग में चित्त को रोक लेना धारणा है।

ध्यान - **'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्।'** (३/२)-जहाँ चित्त को लगाया जाय उस ध्येय में वृत्ति का एकतार चलना, क्रम न टूटना ध्यान कहलाता है। तैलधारावत् वृत्ति चलने लगी, अन्य संकल्प न आयें। ध्यान एक परिणाम है। **'तत्र ध्यानजमनाशयम्।'** (४/६) ध्यानजनित चित्त आशयरहित होने से नष्ट नहीं होता।

गुरुदेव भगवान कहते थे, "हो! हम पतित होना चाहें, तब भी भगवान नहीं होने देंगे।" अभ्यासकाल में प्रकृति के आवरण आते ही रहते हैं। वे हमारे ही पूर्वजन्म के संस्कार हैं। किन्तु साधन उन्नत होते-होते जब ध्यान की अवस्था आती है तो उससे नये संस्कार नहीं बनते, इसीलिये ध्यान से उत्पन्न चित्त की जो अवस्था है, उसका कभी विनाश नहीं होता; क्योंकि **'कर्माशुक्लाकृष्णम्'** (४/७)- ऐसे योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं।

समाधि - पातंजल योग-दर्शन में समाधि का वर्णन लगभग आठ बार हुआ है। **'वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः।'** (१/१७)- वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता से संयुक्त समाधि सम्प्रज्ञात है। **'तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।'** (१/४२)- शब्द, अर्थ और ज्ञान- इन तीनों विकल्पों से संकीर्ण अर्थात् मिश्रित चित्त का समाधान सवितर्क समाधि है। **'स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा**

निर्वितर्का।' (१/४३)-चित्त का स्वरूप जब शून्य हो जाता है, केवल अर्थमात्र (लक्ष्यमात्र) का आभास रह जाता है, उस समय स्मृति पूर्णतः शुद्ध हो जाती है। वही निर्वितर्क समाधि है। **'एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।' (१/४४), 'एतया एव'**-इसी से ही, सवितर्क और निर्वितर्क इन दो व्याख्याओं के द्वारा ही सूक्ष्मतर विषयवाली सविचार और निर्विचार समाधियों की व्याख्या कर दी गयी; किन्तु **'ता एव सबीजः समाधिः।' (१.४६)**-वे सभी सबीज समाधि हैं। इन समाधियों में पूर्व कर्मों का, प्रकृति का बीज नष्ट नहीं होता, बीज विद्यमान रहता है; किन्तु यही निर्विचार समाधि अत्यन्त निर्मल होने पर योगी को **'अध्यात्मप्रसादः'**-आत्मा के आधिपत्य में चलने का महान् प्रसाद प्राप्त हो जाता है और **'तस्यापि निरोधे' (१/५१)**-उसका भी निरोध हो जाने पर **'सर्वनिरोधात्'**-पुरातन-नूतन सब संस्कारों के निरोध हो जाने से निर्बीज समाधि होती है। अब प्रकृति का अंतिम बीज, जो जन्म-मरण का कारण है, शान्त हो जाता है। इस प्रकार समाधिपाद में समाधिपूर्व की पीठिका, समाधि का आरम्भ, शनैः-शनैः उत्कर्ष तथा निर्बीज समाधि का चित्रण है।

अध्याय तीन 'विभूतिपाद' के द्वितीय सूत्र में महर्षि कहते हैं कि चित्तवृत्ति का एकतार चलना ध्यान है। वही ध्यान जब अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था में पहुँच जाता है, **'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।' (३/३)**-जब केवल ध्येयमात्र की प्रतीति होती है और चित्त का निज स्वरूप शून्य हो जाता है, तब वही ध्यान समाधि में परिवर्तित हो जाता है। **'सम आदि स समाधि'**-जो सम है, जिसमें विषमता नहीं है, जो आदितत्त्व अनादितत्त्व है वह है परमात्मा, उस समय ध्यान परमात्मा में प्रवेश दिलाने की अवस्थावाला हो जाता है।

चतुर्थ अध्याय 'कैवल्यपाद' के उन्तीसवें सूत्र में महर्षि बताते हैं कि जिस योगी का विवेक-ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका विवेक-ज्ञान सर्वथा प्रकाशमान रहने के कारण उस योगी को **'धर्ममेघ समाधि'** की प्राप्ति हो जाती है। उस अवस्था में चिदाकाश में केवल धर्म-ही-धर्म छाया रहता है, सृष्टि के अन्य विकल्प आते ही नहीं। परमधर्म

परमात्मा है, उसकी व्यापकता का बोध हो जाता है। उस समय सारे क्लेश और कर्मों से निवृत्ति मिल जाती है। ज्ञेय हल्का-सा अनजाना रहता है। उसमें भी सफलता मिल जाने पर गुणों का परिणाम-क्रम समाप्त हो जाता है। योगी क्षणों का प्रतियोगी हो जाता है। इस अवस्था के उपरान्त कर्म 'निर्ग्राह्य' हो जाते हैं, कर्म से कुछ भी रचना नहीं होती। '**पुरुषार्थशून्यानाम्**'-पुरुषार्थ कुछ करना शेष नहीं रह जाता। अभ्यास के पूर्तिकाल में गुण अब कुछ भी उत्पन्न नहीं करते, अपने कारण में विलीन हो जाते हैं- इसी का नाम कैवल्य है। इस प्रकार समाधि का परिणाम कैवल्य है। द्रष्टा स्वरूप में स्थित हो जाता है।

सारांशतः योग-पथ में गुणों के विलयपर्यन्त, समाधिपर्यन्त अभ्यास नितान्त आवश्यक है।

- **संयम**

अभ्यास-क्रम सधते हुए धारणा, ध्यान और समाधि- इन तीनों का एक हो जाना संयम है। उदाहरण के लिये; सुरत में नाम या रूप को धारण किया जाता है, वृत्ति को सुरत से संयत किया जाता है। उस नाम या रूप में वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है और ध्येय, लक्ष्यमात्र का आभास रह जाना समाधि है। क्रमशः सधते हुए तीनों का एक हो जाना संयम है।

संयम के सधते ही विभूतियों का प्रादुर्भाव होने लगता है। '**तज्जयात् प्रज्ञालोकः।**' (३/५)-बुद्धि अलौकिक ज्योतिर्मय द्रष्टा से संयुक्त, प्रकाशित हो जाती है; किन्तु '**तस्य भूमिषु विनियोगः।**' (३/६)-उस संयम को क्रम से नीची-ऊँची भूमिकाओं में साधते हुए आगे बढ़ाना होता है।

जैसे-जैसे संयम सधता जाता है, क्रमोन्नत अनुभूतियाँ मिलती जाती हैं; किन्तु एक स्तर ऐसा आता है कि '**प्रातिभाद्वा सर्वम्।**' (३/३३)-प्रातिभ ज्ञान उत्पन्न होने पर भूत, भविष्य और वर्तमान सब की जानकारी बिना किसी संयम के, प्रयास के सहज होती रहती है।

परावाणी जब उन्नत अवस्था में प्रवेश करती है, यह संयम सध जाता है। ऐसा योगी जिस पल किसी वस्तु का स्मरण करता है, चित्त में दृश्य

उभरता है। वृत्ति एकतार चली, ध्यान आया, समाधि की स्थिति आई, ध्येयमात्र शेष बचा और इस प्रकार उस वस्तु का रहस्य जान लेता है।

योगियों द्वारा ऐसे प्रयोग के उदाहरण मिलते हैं। आदियोगी भगवान शंकर के सन्दर्भ में देखें- **'तब संकर देखेउ धरि ध्याना। सतीं जो कीन्ह चरित सबु जाना।।' (मानस, १/५५/४)**

विभूतियाँ परिणाम हैं, उपहार हैं। समय आने पर वृक्षों में फूल-फल लगते ही हैं। साधक को इनकी कामना या इनका चिन्तन नहीं करना चाहिए। साधक को चिन्ता योग-साधना और ईश्वर के प्रति समर्पण की होनी चाहिए। साधन की परिपुष्टता में ये विभूतियाँ वसन्त ऋतु की तरह समय पर स्वयं प्रकट होती हैं।

● बुद्धि

निर्विचार समाधि के अत्यन्त निर्मल होने पर योगी को **'अध्यात्म-प्रसादः'**-अध्यात्म-प्रसाद प्राप्त हो जाता है अर्थात् उस समय आत्मा का आलोक मात्र रह जाता है। इससे अन्य संस्कारों का अंत हो जाता है और **'ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा।' (१/४८)**-उस समय योगी की बुद्धि ऋत अर्थात् सत्य से संयुक्त हो जाती है। सत्य एकमात्र परमात्मा है, वह उस परमात्मा को धारण करने की क्षमतावाली होती है। श्रवण और अनुमान से होनेवाली बुद्धि की अपेक्षा इस बुद्धि का विषय भिन्न है; क्योंकि यह विशेष अर्थवाली होती है।

बुद्धि के दो रूप हैं। इसी प्रसंग को कैवल्यपाद के इक्कीसवें सूत्र में पुनः स्पष्ट करते हुए महर्षि कहते हैं- **'चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंगः स्मृतिसंकरश्च।' (४/२१)** चित्त के अन्तराल में जो दृश्य उभरते हैं, वे बुद्धि में बहुत-सा प्रश्न खड़ा कर देते हैं। **'अतिप्रसंगः'**-अत्यन्त अनन्त प्रसंग छिड़ जाते हैं। इससे **'स्मृतिसंकरः'**-स्मृति मिश्रित हो जाती है। स्मृति और संकल्प एक है। अनन्त संकल्पों का क्रम आरंभ हो जाता है। यद्यपि वह चेतन-शक्ति पुरुष असंग है, क्रिया से हीन है; किन्तु **'तदाकारपत्तौ' (४/२२)**-चित्त जब उसका आकार धारण करता है, तब **'स्वबुद्धिसंवेदनम्'**-स्थिरबुद्धि में 'स्व'रूप का ज्ञान प्राप्त करता है।

सारांशतः महर्षि पतंजलि के अनुसार बुद्धि के दो रूप हैं- एक तो बाह्य बुद्धि, जो श्रवण और अनुमान से होती है। इसकी अपेक्षा ऋतम्भरा बुद्धि श्रेष्ठ होती है। चित्त में उभरनेवाले अनन्त संकल्पों से, अनन्त निर्णयों से स्मृति मिश्रित हो जाती है; किन्तु चेतन क्रियाहीन असंग पुरुष के तदाकार होने पर '**स्वबुद्धिसंवेदनम्**'- बुद्धि में स्व-स्वरूप का, स्वयं का संवेदन प्राप्त करता है।

दूसरे शब्दों में, बुद्धि के दो रूप हैं एक तो श्रवण और अनुमान से होने वाली सामान्य बुद्धि, यही विशुद्ध हो जाने पर योग-साधनों से अपनी बुद्धि में स्व-स्वरूप का प्रतिबिम्ब पानेवाली बुद्धि। इसके पश्चात् बुद्धि भी लय हो जाती है।

● धर्म

जहाँ चित्त का निरोध, समाधि और एकाग्रता-परिणाम निकला, पातंजल योगसूत्र में वहीं 'धर्म' शब्द का प्रयोग हुआ है। जैसे- अभ्युदय होनेवाले संस्कारों का दब जाना, निरोध अवस्था के संस्कारों का प्रकट हो जाना- यह चित्त का निरोध-परिणाम है। इससे चित्त की वृत्ति शान्त प्रवाहित रहती है। इसी तरह सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करनेवाली वृत्ति का क्षय हो जाना और एक ही ध्येय नाम या रूप का चिन्तन करनेवाली एकाग्रता अवस्था का उदय हो जाना चित्त का समाधि-परिणाम है और जब शान्त तथा उदय होने वाली दोनों ही वृत्तियाँ एक-सी हो जायँ, सम हो जायँ- यह चित्त का एकाग्रता-परिणाम है। इन तीनों के द्वारा ही इन्द्रियों के संयम तथा रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श इन पाँचों महाभूतों में होनेवाले धर्म, लक्षण और अवस्था-परिणामों का भी वर्णन किया जा चुका है। यहाँ धर्म शब्द का पहली बार प्रयोग हुआ है। (३/१३)

कैवल्यपाद के सातवें सूत्र में सूत्रकार कहते हैं कि योगी के कर्म अशुक्ल और अकृष्ण होते हैं; किन्तु दूसरों के कर्म तीन प्रकार के होते हैं, उनसे फलानुकूल वासनाओं की ही अभिव्यक्ति होती है। वे वासनायें कितने ही जन्म व्यतीत हो जायँ, कितने ही देश-काल परिवर्तित हो जायँ तब भी

कर्मजन्य संस्कारों के समुदाय में व्यवधान नहीं पड़ता। वे नियत समय पर प्रकट हो जाते हैं। उनमें व्यवधान नहीं पड़ता; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों का एक ही स्वरूप होता है। स्मृति-पटल पर वही उभरता है जो संस्कार में होता है- इसलिये दोनों एक हैं। स्मृति और संस्कारों की एकरूपता अनादि है। इसलिये **'नित्यत्वात्' (४/१०)-** नित्य, शाश्वत स्वरूप पाने की इच्छा सदा रहती है। शाश्वत सुख, शाश्वत निवास और अमृतमय स्वरूप पाने की लालसा मानव में सदैव रहती है।

इन वासनाओं तथा संस्कारों का विनाश कैसे हो? इस पर कहते हैं- हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन- इन चारों से संस्कारों अर्थात् वासनाओं का संग्रह होता है। अतः इन चारों का अभाव होने से उन वासनाओं का तथा वासनाजन्य संस्कारों का सदा के लिये अभाव हो जाता है। इन संस्कारों का हेतु अविद्यादि क्लेश और उनके रहते हुए होनेवाले कर्मों का समुदाय है। इनका फल पुनर्जन्म, आयु और भोग हैं, जो कभी आह्लाद तो कभी दुःखप्रद हैं। इनका आश्रय चित्त है और रूप, रस, गंध, शब्द इत्यादि इनके आलम्बन हैं। इन्हीं से ये वासनाएँ संग्रहीत होती हैं। इनके अभाव के साथ उन मूल संस्कारों का, वासनाओं का सदा के लिये अभाव हो जाता है। इन वासनाओं के अभाव के साथ ही यहाँ धर्म शब्द का पुनः प्रयोग हुआ है- **अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्।। (४/१२)** धर्म की गति में काल का भेद होने पर भी जो हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन अतीत हो गये हैं और जो अनागत हैं, अभी प्रकट नहीं हुए हैं; जैसे- स्वरूप की प्राप्ति इत्यादि, उनमें स्वरूप से धर्म की गति सदा विद्यमान रहती है अर्थात् संस्कार-वासनाओं का अंत और स्वरूप की प्राप्तिकाल में धर्म की विद्यमानता है।

समस्त धर्म की गति का प्रवाह व्यक्त स्थिति में और सूक्ष्म स्थिति में सदैव गुणस्वरूप ही है। गुणों का जैसा सात्त्विक, राजस, तामस अथवा उन्नत, मध्यम और मलिन प्रभाव रहता है वैसा ही धर्म का रूप देखने में आता है; किन्तु **'परिणामैकत्वात्'**-परिणाम की एकता से **'वस्तुतत्त्वम्'**-विषय-वस्तु है योग, वह तत्त्वरूप में प्रकट हो जाता है। अर्थात् चेतन द्रष्टा का तत्त्वरूप में विदित हो जाना सम्भव है। यहाँ धर्म का दूसरी बार नाम आया है।

तीसरी बार धर्म का नाम कैवल्यपाद के उत्तरार्ध में द्रष्टव्य है कि विशेषदर्शी पुरुष के चित्त से कोई शुभाशुभ निर्माण नहीं होता; किन्तु जो उद्वेग उठते हैं, वे क्या हैं?–इस पर कहते हैं, **'तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः।'** (४/२७)- उस समाधि के अन्तराल में विपरीत वस्तुओं या विचारों का स्फुरण **'संस्कारेभ्यः'**-संस्कारों से होता है। संस्कारों की परत में अतिसूक्ष्म कुछ पड़ा है वही स्फुरित होता है। ये संस्कार क्लेशों के समान ही घातक हैं। **'हानमेषां क्लेशवदुक्तम्।'** (४.२८)-इन संस्कारों का विनाश क्लेशों की भाँति ही कर देना चाहिए; क्योंकि इन संस्कारों का मूल क्लेश है। इन सूक्ष्म संस्कारों के नष्ट होने पर **'प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः।'** (४/२९)–जिस योगी का विवेक-ज्ञान की महिमा में भी वैराग्य हो जाता है, उसका यह विवेक-ज्ञान सर्वथा प्रकाशवान रहने के कारण उसको धर्ममेघ समाधि प्राप्त हो जाती है। चिदाकाश में सर्वत्र धर्म-ही-धर्म होता है, अन्य कोई स्फुरण नहीं होता है; क्योंकि जो अंतिम संस्कार थे वह भी मिट गये। इस समाधि के प्रभाव से क्लेश और कर्मों से सदा के लिये छुटकारा मिल जाता है। यहाँ धर्म उन परमात्मा को धारण करने की अवस्था में प्रयुक्त हुआ है।

भगवान श्रीकृष्ण ने धर्म की परिभाषा दी- **'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।'** (गीता, १८/६६)–सारे धर्मों की चिन्ता छोड़ एकमात्र मेरी शरण हो जाओ। गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा- **'सो सुखु करमु धरमु जरि जाऊ। जहँ न राम पद पंकज भाऊ।। जोगु कुजोगु ग्यानु अज्ञानू। जहँ नहि राम पेम परधानू।।'** (मानस,२/२९०/१-२)–उस धर्माचरण में, उस कर्म में आग लग जाय जहाँ राम के चरणों में श्रद्धा न हो। यदि ऐसा नहीं है तो कर्म नहीं कुकर्म है, धर्म नहीं अधर्म है, योग नहीं कुयोग है, ज्ञान नहीं अज्ञान है। इसी आशय से इन महापुरुष ने तीन बार 'धर्म' शब्द का प्रयोग किया है। चित्तवृत्ति-निरोध के साथ, समाधि के परिणाम के साथ तथा अंतिम संस्कारों के विलय के साथ धर्म का प्रयोग है।

।। ॐ ।।

एक भक्त का प्रश्न

प्रश्न– *महाराज जी! आजकल हम स्कूल में योग पढ़ते हैं जिसमें सभी प्रकार के आसनों का अभ्यास कराया जाता है, समय-समय पर गीता और पतञ्जलि के श्लोक बोले जाते हैं; किन्तु गीता और पातञ्जल योगदर्शन में इन आसनों का विवरण मिलता नहीं है। कृपया इसका समाधान प्रस्तुत करें।*

उत्तर– आजकल शिक्षा संस्थानों में, सन्त-महात्माओं में योगासनों की सूची पर्याप्त विस्तृत है; किन्तु आदि योगशास्त्र गीता एवं महर्षि पतञ्जलिकृत 'योगदर्शन' में इस सम्बन्ध में मात्र एक श्लोक और एक सूत्र मिलता है–

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नाति नीचं चैलाजिन कुशोत्तरम्।। (गीता, ६/११)

स्थिर सुखमासनम्।। (योगदर्शन, २/४६)

योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ने गीता में बताया कि आत्मा ही सत्य है। आत्म-साक्षात्कार करानेवाली योगविधि यज्ञ है। उस यज्ञ का गीता के अध्याय चार में विस्तार से वर्णन किया गया है किन्तु यज्ञकर्त्ता के लिये स्थान कैसा हो, आसन कैसा हो, उस पर कैसे बैठा जाय, कर्ता के द्वारा पालन किये जाने वाले नियम, आहार, विहार, शयन-जागरण, परिश्रम, कर्म पर लगन इत्यादि पहलुओं को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अध्याय ६ में श्लोक १० से १९ तक स्पष्ट किया है।

सर्वप्रथम उन्होंने स्थान और आसन बताया। गीता, ६/१० में है कि चित्त को जीतने में लगा हुआ योगी मन, इन्द्रियों और शरीर को वश में रखकर वासना और संग्रहरहित होकर एकांत स्थान में अकेले ही चित्त को योगक्रिया में लगाये।

उसके लिये भूमि कैसी हो? आसन कैसा हो? अध्याय ६.११ में योगेश्वर कहते हैं कि शुद्ध भूमि में कुश, मृगछाल, वस्त्र, तख्त इत्यादि बिछाकर आसन को न अति ऊँचा न नीचा, स्थिर स्थापित करें। शुद्ध भूमि का तात्पर्य

उसे झाड़ने–बुहारने, सफाई करने से है। जमीन पर कुछ बिछा लेना चाहिए– चाहे मृगछाल हो या चटाई अथवा कोई वस्त्र– जो भी उपलब्ध हो। आसन हिलने–डुलनेवाला न हो।

पूज्य महाराज जी लगभग पाँच इंच ऊँचे आसन पर बैठते थे। एक बार भाविकों ने लगभग एक फीट ऊँचा संगमरमर का एक तख्त मँगा दिया। महाराज जी उस पर एक दिन तो बैठे, फिर बोले– "नहीं हो! बहुत ऊँचा हो गया, ऊँचे नहीं बैठे का चाही। अभिमान हो जाया करता है। नीचे भी बैठना नहीं चाहिए; क्योंकि उससे भी हीनता आती है, अपने से घृणा हो जाती है।" उन्होंने उसे उठवाया और जंगल में एक बगीचा था, वहाँ रखवा दिया। वहाँ न कभी महाराज जी जाते थे और न अब ही कोई जाता है। यह था पूज्य परमहंस जी महाराज का क्रियात्मक प्रशिक्षण।

अध्याय ६/१२ में है कि आसन व्यवस्थित हो जाने पर उस आसन पर बैठकर मन को एकाग्र कर चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को वश में रखते हुए अंतःकरण की शुद्धि के लिए योगाभ्यास करें। यहाँ आसन बैठने के लिए तैयार की गई चौकी है।

अध्याय ६/१३ में बैठने का तरीका बतलाते हुए योगेश्वर कहते हैं कि शरीर, गर्दन और शिर को सीधा, अचल स्थिर धारण कर दृढ़ होकर बैठ जायँ। नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखे। (यहाँ नासिका की नोंक देखते रहने का निर्देश नहीं है बल्कि सीधे बैठने पर नाक के सामने जहाँ दृष्टि पड़ती है, वहाँ दृष्टि रहे– दाहिने–बायें देखने की चंचलता न रहे, अन्य दिशाओं को न देखते हुए।)

अध्याय ६/१४– ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित होकर भयरहित और अच्छी प्रकार शान्त अन्तःकरणवाला, मन को संयत रखते हुए, मुझमें लगे हुए चित्त से संयुक्त, मेरे परायण होकर स्थित हो।

अध्याय ६/१५– इस प्रकार अपने आपको निरन्तर उसी चिन्तन में लगता हुआ संयत मनवाला योगी मेरे में स्थितिरूपी परम पराकाष्ठावाली शान्ति को प्राप्त होता है।

यहाँ आसन बैठने की जगह है, वस्तु है, नासिका के अग्रभाग को अपलक देखते हुए अचल स्थिर बैठने का तरीका है। गीता में अन्य किसी आसन का उल्लेख नहीं है। इसी प्रसंग में योगेश्वर बतलाते हैं कि परमानन्द वाली शान्ति के लिए शारीरिक संयम, युक्ताहार-विहार तथा कर्म में उपयुक्त चेष्टा आवश्यक है।

अध्याय ६ के सोलहवें तथा सत्रहवें श्लोक में वे कहते हैं- यह योग न तो बहुत खानेवाले का सिद्ध होता है और न बिल्कुल न खानेवाले का सिद्ध होता है, न अत्यन्त सोनेवाले का और न अत्यन्त जागनेवाले का सिद्ध होता है। दुःखों का नाश करनेवाला यह योग उचित आहार-विहार, कर्म में उपयुक्त चेष्टा और सन्तुलित शयन-जागरण करनेवाले का ही पूर्ण होता है। अधिक भोजन करने से आलस्य, निद्रा और प्रमाद घेरेंगे, तब साधना नहीं होगी। भोजन छोड़ देने से इन्द्रियाँ शिथिल हो जायेंगी, अचल-स्थिर बैठने की क्षमता नहीं रह जायेगी। विहार अर्थात् साधन के अनुकूल विचरण, कुछ परिश्रम भी करते रहना चाहिए अन्यथा रक्त-संचार शिथिल पड़ जायेगा, रोग घेर लेंगे। आयु शयन, जागरण, आहार और अभ्यास से घटता-बढ़ता रहता है। कर्म में चेष्टा अर्थात् आराधना में प्रयत्न आवश्यक है।

उन्नीसवें तथा बीसवें श्लोक में योगेश्वर कहते हैं कि जिस प्रकार वायु रहित स्थान में रखा गया दीपक चलायमान नहीं होता, लौ सीधे ऊपर जाती है, उसमें कम्पन नहीं होता, यही उपमा ध्यान में लगे हुए योगी के जीते हुए चित्त की दी गयी है। चित्त भले ही जीता गया है, किन्तु अभी जीवित तो है। जिस अवस्था में योग के अभ्यास से निरुद्ध हुआ चित्त भी उपराम हो जाता है, उस अवस्था में योगी '**आत्मना**'-अपने आत्मा के द्वारा, '**आत्मानम्**'-परमात्मा को देखता हुआ, '**आत्मनि एव**'-अपने आत्मा में ही सन्तुष्ट होता है।

योगी देखता तो परमात्मा को है, लेकिन सन्तुष्ट अपनी ही आत्मा से होता है। क्योंकि प्राप्तिकाल में तो परमात्मा का साक्षात्कार होता है; किन्तु दूसरे ही क्षण वह अपने ही आत्मा को उन शाश्वत ईश्वरीय विभूतियों से ओतप्रोत पाता है। ब्रह्म अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है,

तो इधर आत्मा भी अजर, अमर, शाश्वत, अव्यक्त और अमृतस्वरूप है। है तो, किन्तु अचिन्त्य भी है। जब तक चित्त और चित्त की लहर है तब तक वह आपके उपभोग के लिए नहीं है। चित्त का निरोध और निरुद्ध चित्त के भी विलयकाल में परमात्मा का साक्षात् होता है और दर्शन के ठीक दूसरे क्षण उन्हीं ईश्वरीय गुणधर्मों से युक्त अपने ही आत्मा को पाता है इसलिए वह अपनी ही आत्मा में सन्तुष्ट होता है। यही योग की पराकाष्ठा है।

यहाँ शारीरिक व्यायाम के रूप में प्रचलित बाह्य आसनों का योग-साधना में कोई उपयोग नहीं है। बाह्य आसन योगी और भोगी, रोगी तथा स्वस्थ सबके लिए स्वास्थ्यवर्धक है। यदि जिमिनास्टिक का अभ्यास है तब इन बाह्य आसनों की कोई आवश्यकता भी नहीं है; क्योंकि शरीर के समस्त अंग-प्रत्यंगों का व्यायाम समान रूप से हो जाता है। चित्त का निरोध तो नियत कर्म के अभ्यास से ही होता है।

पातञ्जल योगदर्शन

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है। अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध हो जाता है। ईश्वर-शरणागति और प्रणव (ओम्) अभ्यास के आधार हैं। तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान से योग-क्रिया आरम्भ हो जाती है। योग के आठ अंग हैं- यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। ये क्रमोन्नत स्थितियाँ हैं, जिनमें तीसरा स्थान आसन का है-

स्थिर सुखमासनम्।। (योगदर्शन, २/४६)

स्थिर अर्थात् हलन-चलन से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। ऐसा नहीं कि शिर के बल खड़े हो जायँ या कमर को धनुषाकार ऊपर की ओर तान दें। आसन से महर्षि का आशय स्थिर बैठने से है। हलन-चलन शरीर में नहीं होती, मन में होती है। मन में संकल्पों की लहर आते ही शरीर क्रियाशील होकर उधर ही बढ़ने लगता है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्।। (योगदर्शन, २/४७)

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधान साधने में जो प्रयत्न चलता था उसमें शिथिलता आ जाय, श्रम न करना पड़े और ये सभी स्वाभाविक होने लगे तथा परमात्मा में मन लगाने से आसन सध जाता है। वह सुखपूर्वक शान्त सम बैठने की क्षमतावाला हो जाता है।

आसन के सधते ही प्राण-अपान की गति का विच्छेद हो जाना प्राणायाम है। प्राणायाम से प्रत्याहार अर्थात् मन को विषयों से समेटने की क्षमता और इन्द्रियों की परम वश्यता हो जाती है, साथ ही '**धारणासु च योग्यता मनसः।**' (**योगदर्शन, २/५३**)'-मन में धारण करने की क्षमता आ जाती है। चिन्तन में जो धारण किया गया- उसमें वृत्ति का एकतार चलना ध्यान है और '**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।**' (**३/३**)-केवल लक्ष्य का आभास रह जाय, चित्तवृत्ति का निज स्वरूप शून्य हो जाय तब वही ध्यान समाधि में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार योग के आठों अंग क्रम-क्रम से उभरनेवाली अवस्थाएँ हैं। महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन में आसन का इतना ही विवरण है, वह भी शान्त एकान्त में बैठकर अभ्यास से उपलब्ध होता है।

गीता और पातंजल योगदर्शन में इतना ही अन्तर है कि गीता में पहले आसन का वर्णन है, इसके तुरन्त पश्चात् ब्रह्मचर्य इत्यादि यम और ईश्वर-प्रणिधानादि नियमों पर बल दिया गया है; जबकि महर्षि पतंजलि ने पहले यम और नियम का वर्णन किया और बाद में आसन का स्थिर ठहर जाना बताया है। महर्षि का आसन शरीर की अपेक्षा मन की स्थिरता से अधिक है। उनका 'आसन' अनन्त परमात्मा में मन लगाने से सिद्ध होता है।

भगवान महावीर गो-दोहन आसन से बैठकर ध्यान करते थे जिससे निद्रा, आलस्य साधना में अवरोध न कर सकें। भगवान बुद्ध साधना के अंतिम चरण में एक पीपल के वृक्ष के नीचे विराजमान थे। स्वास्ति नामक ग्यारह वर्षीय चरवाहे ने उन्हें शान्त मुद्रा में बैठे देखा। उसने अध्ययन किया कि दोनों पाँव जंघे पर इस प्रकार रखे हुए थे कि पैर के तलवे दिखायी दे रहे

थे। बायीं हथेली में दाहिनी हथेली! आँखें अर्धोन्मीलित! दृष्टि आगे की ओर! यह उनका प्रिय आसन पद्मासन था।

गोस्वामी तुलसीदास जी के 'रामचरितमानस' में भी आसनों का प्रचुर उल्लेख है; जैसे– सीता-स्वयंवर के समय महाराज जनक ने कहा–

तुरत सकल लोगन्ह पहिं जाहू। आसन उचित देहु सब काहू।।
(१/२३९/८)

जब बारात आ गयी–

सादर सब के पाय पखारे। जथाजोगु पीढ़न्ह बैठारे।।
(१/३२७/३)

आसन उचित सबहि नृप दीन्हे। बोलि सूपकारी सब लीन्हे।।
(१/३२७/७)

चारि सिंघासन सहज सुहाए। जनु मनोज निज हाथ बनाए।।
(१/३४९/१)

पुनि वशिष्ठ मुनि कौशिकु आये। सुभग आसनन्हि मुनि बैठाये।।

इस प्रकार राजाओं के लिए सिंहासन, मुनियों को सुन्दर आसन कहीं पीढ़ा, कहीं सुखासन, कहीं कुशासन, कहीं मृगचर्म! यहाँ आसन बैठने की वस्तु का नाम है। कुछ स्थानों पर बैठने की मुद्रा का नाम आसन है– '**कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि वीरासन।।**' (२/८९/२) धनुष पर बाण चढ़ा हुआ, हर समय सावधान! लक्ष्मण जी वीरासन से बैठे थे। भगवान शंकर के लिए आया है– '**तहँ पुनि संभु समुझि पन आपन। बैठे बट तर करि कमलासन।।**' (१/५०/७) सती-त्याग की प्रतिज्ञा का स्मरण कर भगवान शंकर वट-वृक्ष के नीचे कमलासन लगाकर भजन में बैठ गये। यहाँ किसी बिछे हुए आसन की चर्चा नहीं है, बल्कि बैठने की एक मुद्रा है।

'**सुर लखे राम सुजान पूजे मानसिक आसन दए।**' (**१/३२० छन्द**)-विवाह के समय देवताओं ने भगवान राम को देखा तो मानसिक आसन देकर उनका पूजन किया, जो हृदय के अन्दर था। एकान्तसेवी सिद्ध

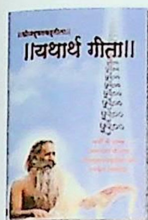
महात्माजन सिद्धासन से बैठते हैं। पालथी मारकर एक पाँव जाँघ पर रखकर, वह भी एड़ी कमर से छू जाय अथवा जाँघ पर कहीं भी रखा रहे इसका नाम सिद्धासन है। पूज्य गुरुदेव प्रायः इसी आसन से बैठते थे। महाराज जी की शरण में आने पर उनको इस मुद्रा में बैठा हुआ देखकर हमने भी जाँघ पर उसी तरह पाँव चढ़ाया और उनके समक्ष बैठ गये। सतीर्थ अग्रजों ने संकेत से मुझे मना किया और बताया कि सिद्धासन से सिद्धपुरुष ही बैठ सकते हैं। उनके समक्ष पाँव ऊपर कर बैठना उनका अपमान और अशिष्ट प्रदर्शन है।

सारांशतः सभी आर्षग्रन्थों में बैठने की मुद्रा, उपयुक्त स्थान और बैठने के लिए प्रयोग में आनेवाली वस्तु का नाम आसन है।

आधुनिक व्यायाम शिक्षक रोगों के निवारण के लिए विभिन्न शारीरिक मुद्राओं की शोध कर योगासन के नाम से उनका प्रचार-प्रसार कर रहे हैं तथा इन मुद्राओं के सम्पादन में गीता के श्लोक और महर्षि पतंजलि के योगसूत्रों का उद्धरण देते हैं; कदाचित् इसीलिए देश-विदेश में एक भ्रान्ति की लहर व्याप्त है कि शाश्वत परमात्मा की उपलब्धि करानेवाला वास्तविक योग यही शारीरिक मुद्राएँ हैं। व्यायाम प्रशिक्षकों को चाहिए कि इन मुद्राओं के समर्थन में गीता या योगदर्शन के उद्धरण न दें। सृष्टि में किसी भी मांगलिक कार्य को करने से पूर्व धर्मशास्त्रों का पाठ उचित है; किन्तु इन्हें योगासन की संज्ञा न दें।

।। ॐ ।।

हमारे प्रकाशन



यथार्थ गीता –
'यथार्थ गीता' में श्रीकृष्ण की वाणी के आशय को भली प्रकार यथावत् समझाया है। यह एक कालजयी कृति है।

२८ भाषाओं में



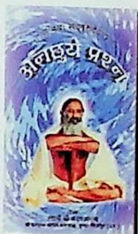
अंग क्यों फड़कते हैं और क्या कहते हैं? –
मानव शरीर के विभिन्न हिस्सों में होने वाले स्पन्दनों का कारण और उसके संकेतों का विश्लेषण किया गया है जो कि साधना में काफी सहायक है।

४ भाषाओं में



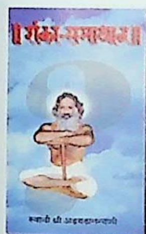
जीवनादर्श एवं आत्मानुभूति –
पूज्य गुरु परमहंस स्वामी श्रीपरमानन्दजी महाराज के जीवन के वृत्तान्त, उनकी अनुभूतियों एवं उपदेशों को संकलित किया है। साधकों के लिए यह बहुत उपयोगी ग्रन्थ है।

४ भाषाओं में



अनछुए प्रश्न –
वर्ण, मूर्तिपूजा, ध्यान, हठ, चक्र-भेदन और योग जैसे विषयों को स्पष्ट कर भ्रमित समाज का मार्गदर्शन किया गया है।

३ भाषाओं में



शंका समाधान –
समाज में प्रचलित सभी कुरीति, रूढ़ि, आडम्बर और अन्धविश्वासों का शमन एवं समाधान किया है।

५ भाषाओं में



एकलव्य का अंगूठा –
शिक्षा-गुरु और सद्गुरु में अन्तर बतलाया गया है। शिक्षक, लोकजीवन की कला सिखाते हैं जबकि सद्गुरु जीवन में समृद्धि के साथ परमश्रेय की जागृति और उस परमपद की प्राप्ति कराते हैं जिससे पुरुष आवागमन से मुक्त हो जाता है।

३ भाषाओं में



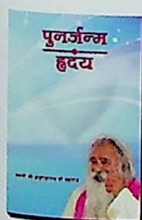
भजन किसका करें?–
लोग गाय, पीपल, देवी-देवताओं, भूत-भवानी की पूजा, धर्म के नाम पर कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक में इन सभी भ्रान्तियों का निवारण करते हुए स्पष्ट किया गया है कि सनातन धर्म क्या है? इष्ट कौन है? भजन किसका करें व कैसे करें?

६ भाषाओं में



षोडशोपचार पूजन पद्धति –
इस पुस्तम में यह बताया गया है कि एक परमात्मा में श्रद्धा स्थिर कराकर, उस एक परमात्मा का चिन्तन सिखाना ही कर्मकाण्ड है।

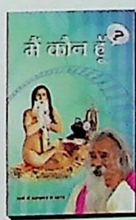
३ भाषाओं में



हिन्दी भाषा में

पुनर्जन्म
बौद्धिक स्तर पर यह एक उलझा हुआ प्रश्न है। मनुष्य जन्मा, जीवन-यापन किया; शरीर छूटा, चला भी गया; कुछ समझ ही नहीं पाया कि पुनर्जन्म है या नहीं। किन्तु योगाभ्यास की एक निश्चित ऊँचाई से मनुष्य जब गुजरता है तो उसे स्पष्ट दिखाई देता है कि पुनर्जन्म है? मैं क्या था? आगे कहाँ जाना है?

हृदय
शरीर में हृदय कहाँ है जिसमें परमात्मा का निवास है? हृदय का परिचय तथा परमात्मा को जानने की सम्पूर्ण विधि पर प्रकाश डाला गया है। क्रमोन्नत तीन शरीर हैं– स्थूल, सूक्ष्म और कारण। क्रमशः कारण शरीर के अन्तिम स्तर पर साधन पहुँचता है, तहाँ ईश्वर का निवास है। यह पुस्तिका इन्हीं प्रश्नों का पूर्ण परिचय देती है।



हिन्दी भाषा में

मैं कौन हूँ?
जन्म से ही नाना प्रकार के सम्बन्धों में भ्रम हो जाता है कि मैं कौन हूँ? यह जिज्ञासा यौगिक है। 'वासांसि जीर्णानि......'– शरीर एक वस्त्र है। यह शरीर छूटा, दूसरा मिला। तामस गुण के कार्यकाल में मृत्यु को प्राप्त हुआ पुरुष पशु, कीट-पतंग इत्यादि अधम योनि प्राप्त करता है। राजसी गुण के कार्यकाल में वह मनुष्य तन पाता है। सात्त्विक गुण के कार्यकाल में देव इत्यादि उन्नत योनि पाता है– हर हालत में योनि पाता है। अतः यह प्रश्न ज्यों-का-त्यों है कि मैं कौन हूँ? वास्तव में जब द्रष्टा यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थिर हो जाता है तो वही आपका वास्तविक स्वरूप है।

धर्मशास्त्र

विश्व का आदि धर्मशास्त्र गीता

आज से ५२०० वर्ष पूर्व भगवान श्रीकृष्ण ने अपने उपदेश में कहा कि इस अविनाशी योग को मैंने कल्प के आदि में सूर्य से कहा था। सूर्य ने अपने पुत्र मनु से कहा। मनु ने इस स्मृति ज्ञान को सुरक्षित रखने के लिए स्मृति की परम्परा चलाई और अपने पुत्र इक्ष्वाकु से कहा। उनसे राजर्षियों ने जाना। इस महत्वपूर्ण काल से यह योग इसी पृथ्वी में लुप्त हो गया था। वही पुरातन योग मैं तेरे प्रति कहने जा रहा हूँ। इस प्रकार सृष्टि का आदि धर्मशास्त्र आदि मनुस्मृति गीता ही है।

कालान्तर में उन्हीं आदि मनु के समक्ष अवतरित वेद इसी गीता का विस्तार हैं। अन्य शास्त्र समयानुसार विश्व की विविध भाषाओं में ईश्वरीय विधान श्रीमद्भगवद्गीता की ही प्रतिध्वनि हैं। आपका धर्मशास्त्र गीता है। धर्म क्या है? ईश्वर क्या है? उसे प्राप्त कैसे करें? यज्ञ, कर्म, वर्ण, यज्ञ करने का अधिकार मानव मात्र को क्यों? और गीता का फल लोक में समृद्धि, परमश्रेय की प्राप्ति इत्यादि जानकारियों के लिए देखें पूज्य स्वामी श्री अड़गड़ानन्दजी कृत श्रीमद्भगवद्गीता की व्याख्या 'यथार्थ गीता'।

"यथार्थ गीता"

द्रष्टा-दृश्य संयोग से योग-साधना की जागृति

द्रष्टा-दृश्य संयोग- जिस परमात्मा की हमें चाह है, जिस सतह पर हम हैं वह परमात्मा उसी स्तर से मार्ग-दर्शन करने लगे। हमारी साधना ऐसी हो कि वह जागृत हो जाय, वह निर्विकार द्रष्टा दृश्य प्रसारित करने लगे, पुरुष के लिए भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने लगे अर्थात् लोक में समृद्धि और परमश्रेय की व्यवस्था देने लगे, अपनी विभूतियों से अवगत कराये- यही है द्रष्टा-दृश्य का संयोग- जिससे क्लेश नष्ट होते हैं और कैवल्य, अनामय पद की प्राप्ति होती है।

- योगदर्शन



श्री परमहंस स्वामी अड़गड़ानन्दजी आश्रम ट्रस्ट

५, आपोलो इस्टेट, मोगरा लेन, नगरदास मार्गके सामने, अंधेरी पूर्व,
मुम्बई ४०००६९, भारत. फ़ोन : (०९१-२२) २८२५ ५३००
ईमेल : contact@yatharthgeeta.com • वेबसाइट : www.yatharthgeeta.com

